चिन्तन-अनुचिन्तन

लेखक

डा० नेमनारायण जोशी

हिन्दी-विभाग

उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर

संघी प्रकाशन

जयपुर – उदयपुर

CHINTAN-ANUCHINTAN
by
Dr. N. N. JOSHI

प्रकाशक :

लेखक के निमित्त
संघी प्रकाशन
लालजी साँड का रास्ता
चौड़ा रास्ता, जयपुर–302003

शाखा :

53, बापू बाजार
उदयपुर–313001

संस्करण :

प्रथम 1975

मूल्य :

अठारह रुपया मात्र

मुद्रक :

सर्वेश्वर प्रिण्टर्स,
जयपुर

लेखकीय वक्तव्य

मुझे वाणी के उन वरद पुत्रों से सचमुच ईर्ष्या है जो प्रति वर्ष ढेर-सी सामग्री लिख कर प्रकाशित करा देते हैं। आश्चर्य होता है उनकी जादुई लेखनी पर जो कागज़ का स्पर्श पाते ही कृतित्व प्रवाहित करने लगती है। उनकी ओर देख कर जव मैं अपनी ओर देखता हूँ तो अपनी अनुर्वरता और अकिंचनता पर बड़ा तरस आता है। सम्पूर्ण इच्छा-शक्ति के वेग से गतिमीत होकर भी मेरी लेखनी दस-पाँच पंक्तियों से आगे नहीं बढ़ती और थके बैल की भाँति अड़ जाती है। प्रयत्न करने पर भी मैं बहुत अधिक नहीं लिख पाता।

अपनी इस असामर्थ्य के भीतर मैंने झाँका है और पाया है कि लेखन-कर्म का भी अपना एक अलग अवसाद होता है—एक ऐसा तीखा रिक्तता का बोध जो चेतना की शिराओं को कुछ काल के लिये अवसन्न कर जाता है। इसे आत्मश्लाघा न समझा जाय, यदि कहूँ कि लिखना आरम्भ करने पर मेरा मन चिन्तन के वियावान में भटक जाता है और जव तक उसकी उलझी पगडंडियों को रौंद कर वह बाहर नहीं निकल आता, लेखन-कर्म स्थगित ही रहता है। विचार जव चिन्तन और अनुचिन्तन की आंच में पिघल कर द्रव-तरल हो लेता है, तभी उसे शब्दों के साँचे में ढाल पाता हूँ—वाक्य का परिधान दे पाता हूँ। लेखनी फिर मूर्च्छावस्था में चली जाती है जब तक कि किसी नये विचार की कौंध उसे झकझोर नहीं देती।

यह पुस्तक हिन्दी की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में समय समय पर प्रकाशित मेरे मौलिक निबन्धों का संग्रह है। इन निबन्धों में विषय की एकरूपता भले ही स्पष्टतः उजागर न हो, पर मेरा विश्वास है कि एक-दो को छोड़ दें तो सब के सब निबन्ध सौन्दर्यशास्त्रीय चिन्तन तथा उसकी पृष्ठभूमि में निहित दार्शनिक अनुचिन्तन के अदृश्य सूत्र से अवश्य जुड़े हैं और इस प्रकार पाठक यदि चाहें, तो उनमें एकरूपता देख भी सकते हैं।

निवन्धों की स्तरीयता एवम् उपादेयता के सम्वन्ध में मेरे कोई लम्बे-चौड़े दावे नहीं हैं। इतना अवश्य कहूंगा कि विवेच्य दार्शनिकों और काव्य-शास्त्रियों के मंतव्य का निर्लेप, निःसंग रूप में तथ्यपरक आख्यान करने ही की मेरी चेष्टा रही है; किसी पूर्वमान्य निकष पर उसके परीक्षण की नहीं। अपनी मान्यताएँ उन पर आरोपित करने से मैंने अपने आपको बचाया है। दर्शन की गुत्थियों को, विना शब्दों का अपव्यय किये, यथा सम्भव सुबोध भाषा में खोल कर रखने का प्रयत्न किया गया है। साथ ही इस वात की सावधानी भी वरती गई है कि दार्शनिक का कथ्य अपनी यथातथ्यता में सुरक्षित रहे।

ये निवन्ध प्रवुद्ध पाठकों के मन में चिन्तन की एक-आध चिन्गारी भी छिटका सकें तो लेखक अपने श्रम को सार्थक मानेगा।

—नेमनारायण जोशी

अनुक्रम

खण्ड (अ)

खण्ड (ब)

खण्ड 'अ'

I

कवि रवीन्द्र की सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि

कला को रवीन्द्र एक सजीव तथा निरन्तर परिवर्द्धमान वस्तु मानते हैं और इसीलिये उसे परिभाषित करने की अपेक्षा उसकी विशेषताओं का अध्ययन करना अधिक उपयोगी समझते हैं। कला अथवा साहित्य के उद्‌गम के सम्बन्ध में उनकी विचार-धारा इस प्रकार है : हमारे हृदय की खिड़कियों से होकर बाह्य जगत् अपने रंग, रूप, गन्ध, ध्वनि को लेकर भीतर प्रविष्ट होता है। हृदय की जितनी अधिक खिड़कियाँ खुली होंगी, बाह्य सृष्टि उतने ही अधिक परिमाण में भीतर प्रविष्ट हो सकेगी। विश्व में जहाँ एक ओर गवाक्षहीन इकाई (विन्डोलैस मॉनैड) वाले व्यक्ति हैं जो चारों ओर के वातावरण से पूर्णतया अप्रभावित रहते हैं, वहाँ दूसरी ओर, रोम-रोम में वातायन लिये मुक्त प्राणी भी हैं जो प्रकृति की प्रत्येक वस्तु के साथ अपने हृदय का रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। बाह्य सृष्टि इस प्रकार भीतर पहुँच कर व्यक्ति के व्यक्तित्व के सम्पर्क में आती है और उसके सुख-दुख, भय-विस्मय, राग-विराग आदि भावों से मिल कर एक नवीन संस्कार ग्रहण करती है। यह बाह्य सृष्टि से भिन्न और स्वतन्त्र सृष्टि है जिसे रवीन्द्र ने 'मानस-सृष्टि' या 'मानसिक जगत्' की संज्ञा दी है। व्यक्तित्व की भिन्नता के कारण यह सृष्टि प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न रूप ग्रहण करती है। बाह्य सृष्टि का एक ही दृश्य भिन्न व्यक्तियों के भीतर भिन्न मानस-सृष्टि करता है।

अब प्रश्न उठता है अभिव्यक्ति का। रवीन्द्र अभिव्यक्ति की अनिवार्यता में विश्वास करते हैं। उनकी मान्यता है कि मानस-सृष्टि नष्ट होना नहीं चाहती अपितु अभिव्यक्त होने के लिये विकल रहती है। भाव की यह प्रकृति है कि वह स्वयं को अन्य हृदयों में भावित करावे। "इसीलिये स्त्रियाँ घाटों पर जमा होती हैं। बन्धु के पास बन्धु जाता है, चिट्ठियाँ आती-जाती रहती हैं, सभा-समिति, तर्क-वितर्क, वाद-प्रतिवाद और यहाँ तक कि मारा-काटी भी हो जाती है।" भाव अमरता प्राप्त करने के लिये व्यग्र रहता है। वह अनन्त काल तक अनन्त हृदयों को प्रभावित करना चाहता है। काव्य, भित्ति-चित्र, शिला-लेख, मन्दिर आदि इसी के परिणाम व साथ ही प्रमाण भी हैं।

यह आवश्यक नहीं कि सम्पूर्ण मानस-सृष्टि काव्य-सृष्टि हो जाय। यह कलाकार या कवि की व्यक्तिगत प्रतिभा पर निर्भर है कि मानस-सृष्टि का कितना अंश वह अभिव्यक्त कर पाता है। कठिनाई यह है कि साहित्य मे भाव को सुन्दर रूप में अभिव्यक्त करना पड़ना है। विज्ञान तथा दर्शन की भाँति मात्र तथ्य-कथन करने से उसका काम नहीं चलता। दूसरे, भाव में एक प्रकार की अनिर्वचनीयता होती है जो अशक्त शब्दों की पकड़ में नहीं आती। उसे रूप देने के लिये चित्र और संगीत की सहायता लेनी पड़ती है। इतना होने पर भी उस मानस-सृष्टि को पूर्णतया अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। सौन्दर्य की अनिर्वचनीयता का कुछ न कुछ अंश बच ही रहता है और जो पूरा-पूरा अभिव्यक्त हो जाता है, वह कुछ और हो सकता है, सौन्दर्य नहीं हो सकता। इसीलिये सौन्दर्य को अभिव्यक्त करने का कार्य युग युगान्तर से चला आ रहा है। कवि या कलाकार तो इस अखण्ड क्रम को बनाये रखने वाले उपलक्ष्य मात्र हैं।

महाकवि की मान्यता है कि 'मानस-सृष्टि' भी ज्यों की त्यों साहित्य के रूप में अभिव्यक्त नहीं हो जाती। 'साहित्य-सृष्टि' वस्तुतः मानस-सृष्टि के समस्त रस को खींच कर उद्भूत होती है। वह मानस या हृदय का कुसुम है। इस प्रकार रवीन्द्र के मत में साहित्य स्रष्ट होता है, उसका निर्माण नहीं किया जाता। जो लोग साहित्य को अनुकरण, दर्पण, प्रतिविम्ब, प्रतिक्रिया, आविष्कार या और कुछ मानते हैं, वे वहुत भ्रम में हैं। प्रत्येक रचना या कलाकृति अपने आप में एक पूर्ण वस्तु होती है जिसका न तो अनुकरण सम्भव है और न अनुवाद ही। अनुवाद मूल रचना के साथ कभी न्याय नहीं कर सकता। यह अलग बात है कि कभी-कभी अनुवाद भी, मूल की अपेक्षा काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से उत्तम हो जाता है। अंग्रेज़ कवि फिट्जेराल्ड द्वारा अनूदित उमर्‌खय्याम का वहु-प्रशंसित अंग्रेज़ी रूपान्तर उदाहरण-रूप में प्रस्तुत भी किया जा सकता है। पर कवि खय्याम की आत्मा ही जानती है कि अनुवादक ने उसके साथ कहाँ तक न्याय किया है। 'साहित्य की सामग्री' शीर्षक निबन्ध में रवीन्द्र ने लिखा है :

"ज्ञान की वस्तु को एक भाषा से दूसरी में रूपान्तरित किया जा सकता है, पर भावों के विषय में यह असम्भव है। वे जिस मूर्ति का आश्रय लेते हैं उससे फिर अलग नहीं हो सकते। प्राण एकमात्र शरीर पर ही निर्भर करते हैं। जल के समान उन्हें एक पात्र से दूसरे में ढाला नहीं जा सकता।"

सच्ची कविता में, चूँकि वह एक सृष्टि है, परिवर्तन या संशोधन के लिये भी अवकाश नहीं रह जाता। पहुँचे हुए कलाकार द्वारा उत्कीर्ण प्रस्तर-मूर्ति पर छैनी की हल्की सी चोट अथवा चित्र पर कूंची का जरा सा स्पर्श जो संशोधन की दृष्टि से

किया जाता है, निश्चय ही कलाकार की कला पर पानी फेर देता है। प्रकृति से मन में, और मन से साहित्य में जो कुछ प्रतिफलित होता है, वह अनुकरण से बहुत दूर है।

साहित्य-सृष्टि की इस प्रक्रिया में रवीन्द्र तीन बातों पर बल देते हैं—बाह्य सृष्टि, जिसकी वास्तविकता असन्दिग्ध है, का भीतर प्रवेश, मानसिक जगत् की सृष्टि और उसकी अभिव्यक्ति के रूप में साहित्य की सृष्टि। देखने की बात यह है कि इन तीनों ही स्थितियों को वह समान रूप से महत्वशालिनी मानते हैं। इतालवी दार्शनिक और विचारक बेनेडेटो क्रोचे इनमें से केवल मध्यम स्थिति को ही स्वीकृति प्रदान करते हैं। वह कला को सहजज्ञान (इंट्यूशन) मानते हैं जिसका बाह्य जगत् से कोई सम्बन्ध नहीं। कहने को तो क्रोचे ने भी 'सहजज्ञान' को प्रतिच्छवि (इमेज) कहा है पर इस प्रतिच्छवि में उस प्रतिच्छवि से भेद है जो बाह्य वस्तु को देखने से दर्शक के मन में उत्पन्न होती है। कला की अभिव्यन्जना क्रोचे के मत में, मन के भीतर ही होती है अर्थात् कला का सृजन 'मन के लड्डू' की भाँति भीतर ही भीतर हो लेता है—मोर जंगल में ही नाच लेता है, कोई देखे या न देखे। कला को अभिव्यक्त करने की क्रिया का, कला के सृजन से वह कोई सम्बन्ध नहीं मानते। कला को उन्होंने आवश्यकता से अधिक आत्मगत या विषयिगत बना दिया है। दूसरी ओर रवीन्द्र कला के लिये बाह्य जगत् की ही अनिवार्यता नहीं मानते, अभिव्यक्ति की भी उतनी ही अनिवार्यता स्वीकार करते हैं।

कला-सम्बन्धी अपने विवेचनात्मक निबन्धों में रवीन्द्र ने 'साहित्य' की परिभाषा देने का इच्छित प्रयत्न केवल एक स्थान पर किया है: "बाह्य प्रकृति और मानव-चरित्र मनुष्य के हृदय में जो रूप प्रतिक्षण धारण करते हैं, भाषा-रचित वही चित्र और गान साहित्य है।" पर यहाँ भी, लगता है जैसे यह परिभाषा उनके चिन्तन के पूर्ण क्षणों की वाणी नहीं है, जैसे किसी कर्त्तव्य के भार से दब कर वह ऐसा करने के लिए विवश हो गये हैं। अमरीका में दिये गये अपने एक भाषण 'कला क्या है' में 'कला' को परिभाषित करते हुए वह हिचकते हैं: "क्या हम परिभाषा से प्रारम्भ करें? पर किसी भी ऐसी वस्तु की परिभाषा करना जिसका जीवन निरन्तर अभिवृद्ध हो रहा है, वस्तुतः अपनी दृष्टि की क्षमता को परिसीमित करना है। यदि हमें एक घूमते हुए पहिए का ज्ञान प्राप्त करना है तो हमें इस बात की चिन्ता नहीं करनी चाहिए कि उसके अरों (स्पोक्स) की कुल संख्या कितनी है।" रवीन्द्र कला को भी एक सजीव तथा अभिवृद्धमान वस्तु मानते हैं। जो गतिशील है, उसे परिभाषा में बाँधना अपने निज के दृष्टिकोण को संकुचित करना है। इस प्रयत्न में निहित कठिनाइयों तथा असम्भावनाओं के बारे में जो विचार उन्होंने उसी भाषण में व्यक्त किये हैं उनका अविकल हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है:

"सजीव वस्तुओं का उनके चारों ओर के पदार्थों से बड़ा गहरा सम्बन्ध होता है, जिनमें से कुछ अदृश्य होते हैं और भूमि में बहुत गहरे पैठते हैं। परिभाषा देने के

अपने उत्साह में, वृक्ष को लट्ठे में बदल देने के लिये, सम्भव है, हम उसकी टहनियाँ और जड़ें काट फेंकें— लट्ठा जो कक्षा से कक्षा तक लुढ़काने में अपेक्षाकृत सरल है और इसलिये एक पाठ्य पुस्तक के लिये उपयुक्त है। पर चूँकि वह अपने आप का स्थूल परिचय देता है, यह नहीं कहा जा सकता कि लट्ठा वृक्ष का समुचित ज्ञान प्रदान करता है।"

इस प्रकार रवीन्द्र कला की तर्क-शुद्ध व्याख्या करने न जाकर कला के उद्देश्य और उद्देश्य-प्राप्ति के साधनों पर विचार करना अधिक उपयोगी समझते हैं। उनकी दृष्टि मे कला का उद्देश्य 'व्यक्तित्व' (पर्सोनेलिटी) की अभिव्यक्ति है।

'व्यक्तित्व' का वे कोषार्थ से भिन्न अर्थ रखते हैं। वे मनुष्य का जगत् के साथ तीन प्रकार का सम्बन्ध मानते हैं जिनमें से प्रथम शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिये होता है और द्वितीय मन या मस्तिष्क की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये। मन या मस्तिष्क तथ्यों के ज्ञान मात्र से ही सन्तुष्ट नहीं हो जाता बल्कि उससे आगे बढ़ कर उनकी तह में छिपे हुए सत्य को भी जानना चाहता है। तथ्य अनेक होते हैं पर सत्य केवल एक होता है। वृक्ष से टूट कर फल नीचे को आता है, वर्षा के जल की बूंदें पृथ्वी पर आती हैं और ऊपर फेंकी गई प्रत्येक वस्तु पृथ्वी को लौटती है। ये सब तथ्य (फेक्ट्स) हैं पर इन सब तथ्यों के मूल में गुरुत्वाकर्षण का जो नियम है, वह सत्य (ट्रुथ) है। इस सत्य के ज्ञान के बाद मस्तिष्क अगणित तथ्यों का अनावश्यक बोझ अपने ऊपर से उतार फेंकता है। यह मस्तिष्क या मन की मुक्तावस्था है। यह कार्य-क्षेत्र विज्ञान का है और इसमें विश्लेषण का सिद्धान्त काम करता है।

जगत् के साथ तीसरा सम्बन्ध हमारे 'व्यक्ति' की सन्तुष्टि के लिये होता है। यह सम्बन्ध उस समय स्थापित होता है जब हम शरीर तथा मन दोनों की आवश्यकताओं से ऊपर उठ जाते हैं। यह जगत् के साथ निःस्वार्थ सम्बन्ध होता है, आत्मीयता का सम्बन्ध होता है, आनन्द का सम्बन्ध होता है। उदाहरण के लिये जल-प्रपात को लीजिए। झरने से जल भर कर या उसके नीचे नहा कर हम उसके साथ व्यावहारिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं। यह शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति के लिये है। फिर हम विश्लेपण के सिद्धान्त द्वारा अपने मन या मस्तिष्क की सन्तुष्टि के लिये दूसरा सम्बन्ध स्थापित करते हैं और इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हाईड्रोजन-आक्सीजन एक विशाल परिमाण में पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण-शक्ति से आकृष्ट होकर नीचे गिर रहा है। पर इन दोनों सम्बन्धों के स्थापित हो जाने पर भी झरने के प्रति हमारा आकर्षण समाप्त नहीं हो जाता। यह जो बचा हुआ निष्प्रयोजन आकर्षण है, यही उसका सौन्दर्य है। इस सौन्दर्य से हमारा जो सम्बन्ध स्थापित होता है वह व्यक्तिगत (पर्सनल्) सम्बन्ध है। यही वह सम्बन्ध है जिसके द्वारा विज्ञान-जगत् के निरपेक्ष (इंपर्सनल्) तथ्य हमारे निकट व्यक्ति-सापेक्ष बन जाते हैं। यह साहित्य और कला का

क्षेत्र है जिसमें संश्लेषण (सिन्थेसिस) का सिद्धान्त काम करता है। रवीन्द्र की साहित्य सम्बन्धी धारणाओं को ठीक-ठीक हृदयंगम करने के लिये इस दृष्टिकोण को समझना बहुत आवश्यक है।

भौतिक दर्शन को मानने वाले लोग रवीन्द्र के इस 'व्यक्ति' को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। शरीर तथा मन से पृथक् इस 'व्यक्ति' के अस्तित्व में उनका अविश्वास स्वाभाविक है। वे रवीन्द्र से इस आध्यात्मिक वस्तु के होने का प्रमाण माँगते हैं। रवीन्द्र के पास केवल एक ही उत्तर है और वह यह कि विश्लेषण की प्रवृत्ति छोड़ कर एकता का सिद्धान्त अपनाओ, दृष्टिकोण में परिवर्तन लाओ, फिर किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। तर्क या विश्लेषण विज्ञान के क्षेत्र में जितने ही महान हैं, कला के क्षेत्र में उतने ही लघु हैं, क्योंकि कला एक सृष्टि है।[1] सृष्टि का रहस्य उसकी एकता में है, विखण्डन में नहीं। यदि वृक्ष का वृक्षत्व देखना है तो तने को, डालियों को और पत्तों को मत देखो बल्कि इस अनेकता के नीचे छिपी हुई एकता को—वृक्ष की आत्मा को देखो। वाक्य का अर्थ तभी समझ में आयेगा जब अक्षर और शब्द मिलाकर समझे जायेंगे। यदि प्रत्येक अक्षर को पृथक् पृथक् पढ़ने का प्रयत्न किया जायेगा, तो सिर-दर्द भले ही हो जाय, अर्थ समझ में नहीं आयेगा। हमारी आँखों का भी यह स्वभाव है कि वे वस्तु को उसकी सम्पूर्णता में देखती हैं, उसके अंशों को पृथक् पृथक् करके नहीं। इसी प्रकार जगत् के एक एक पदार्थ की आत्मा या सम्पूर्ण विश्व की आत्मा के दर्शन यदि हो सकते हैं तो एकता के सिद्धान्त से ही। विश्लेषण के द्वारा तो सृष्टि की आत्मा के दर्शन अनन्त काल तक प्रयत्न करने पर भी सम्भव नहीं क्योंकि वह अखण्ड है, उसके अंश या खण्ड नहीं हैं।

जगत् के साथ 'व्यक्ति' का सम्बन्ध ही आनन्द का सम्बन्ध है। अपने आत्मीयों से मिलकर हमें आनन्द इसलिये होता है कि उनके भीतर हम अपने आप को पाते हैं। पर को स्व और स्व को पर समझना ही आनन्द का सम्बन्ध है। ज्यों ज्यों हमारे भीतर का 'व्यक्ति' जाग्रत होता जाता है, आत्मीयता का हमारा क्षेत्र भी विस्तृत होता जाता है, यहाँ तक कि ऐसा क्षण भी आ सकता है जब सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में हम अपने व्यक्तित्व को पायें। यह वही स्थिति है जिसे हम साधारणतया

1. The World is not atoms and molecules or rodio-activity or other forces, the diamond is not carbon and light is not vibrations of ether. You can never come to the reality of creation by contemplating it from the point of view of destruction XXX For the reality of the world belongs to the personality of man and not to reasoning, which useful and great though it be, is not the man himself.

—The World of personality.

'रहस्यवाद' कहते हैं। स्वार्थ और अहंकार इस स्थिति पर पहुँचने के मार्ग में विघ्न हैं। जिस प्रकार मुर्गी का बच्चा बाह्य जग के अनन्त मुक्त वातावरण में पहुँचने के लिये अण्डे का कठोर छिलका तोड़ डालता है, उसी प्रकार हमारा 'व्यक्ति' भी स्वार्थ और अहंकार को नष्ट कर देता है। यद्यपि जीवन में स्वार्थ और अहंकार के उदाहरण ही अधिक दिखाई पड़ते हैं, फिर भी मानवात्मा का स्वाभाविक धर्म तो पर को स्व और स्व को पर समझना ही है। प्रश्न उठता है कि स्वार्थ और अहकार को ही मानवात्मा का स्वाभाविक धर्म क्यों नहीं समझ लिया जाता ? रवीन्द्र का उत्तर है कि साइकिल चलाना सीखते हुए हम साइकिल चलाने की अपेक्षा गिरते अधिक हैं। फिर भी हम यह नहीं कहते कि हम गिरना सीख रहे हैं, यही कहते हैं कि साइकिल चलाना सीख रहे हैं।

सौन्दर्य की चर्चा करते हुए सबसे महत्वपूर्ण बात जो रवीन्द्र ने कही है वह यह कि सुन्दर वस्तु को उसके परिवेश से अलग कर के नहीं देखा जा सकता। शेष सृष्टि के साथ मिला कर देखने पर भी जो सुन्दर रहे, वही सुन्दर है। मदिरा के नशे में मद्यप को उसका मदिरालय जो स्वर्ग-सम प्रतीत होता है वह इसलिए कि उसने अपने आप को शेष मनुष्यों से, और मदिरालय को शेष सृष्टि से पृथक् कर लिया है। पर जब वह स्वस्थ होकर उस मदिरालय को पुनः सृष्टि के साथ मिला कर देखता है तब उसे नर्कवत् पाता है। इसी प्रकार जो लोग पुष्प को कंटकमय टहनी से और मोती को सीप से पृथक् कर अपनी शोभा बढ़ाते हैं, वे सौन्दर्य-प्रेमी नहीं, सौन्दर्य के शत्रु हैं। ऐसे व्यक्ति सुख (प्लेज़र) को ही आनन्द (ब्लिस) और विकार (डिफार्मिटी) को ही, सौन्दर्य (ब्यूटी) समझ लेने का भ्रम करते हैं। आँखें अपने स्थान पर ही, अपने परिवेश में ही, सुन्दर हैं। यदि हम उन्हें निकाल कर किसी मख़मल की डिबिया में सञ्चित करना चाहें तो वे रक्त-मांस के वीभत्स लोथड़ों से अधिक कुछ न रहेंगी।

दूसरी महत्व की बात है सौन्दर्य का चित्त की चंचलता से विरोध। जहाँ मन का संयम नहीं, सौन्दर्य वहाँ टिक नहीं सकता। जो लोग पेटू हैं, खाने पर टूट पड़ने के लिये अधीर हैं, वे भोजन का रस कभी नहीं पा सकते। जब हमारी कोई वृत्ति चंचल हो जाती है तो भाव की धारा में भँवर पड़ जाता है। प्रवाह की स्वाभाविक गति को छोड़ कर वह चक्कर खाने लगती है। अतः चित्त को संयमित रखना नितान्त आवश्यक है। इस संयम को प्राप्त करने के लिये प्रारम्भ में कठिन साधना करनी पड़ती है। यद्यपि यह साधना अन्य सभी साधनाओं की भाँति नीरस होती है पर रस के लिये ही इस नीरसता को अपनाना पड़ता है। जिस प्रकार अस्थि-पंजर मानव-शरीर को ठोस आधार प्रदान करता है उसी प्रकार यह साधना हमारे रस-ग्रहण की ठोस आधारशिला है। इसलिये रवीन्द्र कहते हैं कि सच्चा सौन्दर्य समाहित साधकों को ही प्रत्यक्षगोचर होता है, लोलुप भोगियों को नहीं।

कभी-कभी साधक साधना और उसके नियम-पालन में इतना खो जाता है कि साध्य को बिल्कुल भूल जाता है। संगीत का साधक रस-सृष्टि करना भूल कर केवल 'आ आ' करता रहता है। यह मनुष्य का दुर्भाग्य है कि उसका लक्ष्य प्रायः उपलक्ष्य के द्वारा दब जाता है। कारण इसका दृष्टिकोण की संकुचितता है। यदि उद्देश्य को दृष्टि-पथ में रखते हुए संयम-चर्चा को भी संयत रखा जाये तो फिर भय की कोई बात नहीं है।

सौन्दर्य-बोध विस्तृत होते होते सम्पूर्ण सृष्टि सुन्दर प्रतीत होने लगती है। हमारे लिये सृष्टि का जितना भाग सौन्दर्य-क्षेत्र से बाहर है, उतने ही परिमाण में हम छोटे साहित्यकार हैं। वस्तुतः सृष्टि में असुन्दर कुछ भी नहीं है। अपने अपने स्थान पर सभी कुछ सुन्दर है। पौधे पर केवल पुष्प ही सुन्दर नहीं, पत्ते भी सुन्दर हैं और टहनियाँ भी सुन्दर हैं। पुष्प का मुरझा कर भूमि पर चू पड़ना भी उतना ही सुन्दर है जितना उसका कली से पुष्प के रूप में विकसित होना। बाल्यकाल और यौवन ही सुन्दर नहीं हैं बल्कि वृद्धावस्था और मृत्यु भी उतनी ही सुन्दर है। ये सब तो एक ही विकास के चार चरण हैं। फिर भला उनमें कोई सुन्दर और कोई असुन्दर क्योंकर हो सकता है? सौन्दर्य को उसकी समग्रता में देखना ही सच्चा सौन्दर्य-बोध है।[1]

इस सर्वव्यापी सौन्दर्य के दर्शन तभी संभव हैं जब मनुष्य अपने को स्वार्थ से ऊपर उठा ले और इन्द्रिय-भोग से तटस्थ कर ले। तभी वह जान सकता है कि जो हमें सुखकर नहीं, वह आवश्यक रूप से असुन्दर नहीं। उसका सौन्दर्य उसके सत्य होने में है।

जब हम कहते हैं कि समस्त ही सुन्दर है तो इसका यह आशय नहीं कि 'असुन्दर' शब्द को कोष से ही हटा देना चाहिये। वस्तुतः असौन्दर्य सृष्टि में नहीं है, सौन्दर्य की कुरूप अभिव्यक्ति मे है। यदि पुष्प को टहनी से तोड़ कर मेज पर रखे कृत्रिम गुलदस्ते में सजा दिया जाय या कोट के 'बटन-होल' में लगा लिया जाय तो निश्चय ही यह असुन्दर होगा।

शिवम् वस्तुतः सुन्दरम् का ही रूप है। प्रयोजन से ऊपर होने के कारण ही सौन्दर्य को ऐश्वर्य की कोटि में लिया गया है। मंगल भी इसी प्रकार सुख-दुख से

---

१. संसार की आनन्द लीला को भी हम जितने अधिक पूर्ण रूप में देखते हैं, उतना ही हमें पता लगता है कि अच्छा-बुरा, सुख-दुख, जीवन-मृत्यु सब उठ कर और गिर कर विश्व-संगीत के छन्द की रचना कर रहे हैं। यदि हम समग्र भाव से देखें तो इस छन्द का कहीं विच्छेद नहीं है। संसार में सौन्दर्य को इस प्रकार समग्र रूप से देखना सीखना ही सौन्दर्य-बोध का अन्तिम लक्ष्य है।

—सौन्दर्य और साहित्य।

ऊपर है। यदि लोकोपकार की प्रेरणा से कोई राम किसी अत्याचारी रावण को दण्डित करता है तो हमारा 'आश्चर्यपूर्ण प्रसादन' होता है। यह आश्चर्य हमारे सुख-दुख से ऊपर होता है, आनन्द की कोटि का होता है। यही मंगल का ऐश्वर्य है। भगीरथ का गंगा को पृथ्वी पर लाना या हनुमान का निराशा में डूबी सीता तक राम की मुद्रिका पहुँचाना 'मंगल' के श्रेष्ठ उदाहरण हैं जिनमें अनन्त काल का कवि अनन्त काल तक सौन्दर्य के दर्शन करता रहेगा। मंगल का सौन्दर्य उसकी उपयोगिता के कारण नहीं है, मंगल सुन्दर इसलिये है कि उसका समस्त संसार के साथ एक अत्यन्त गम्भीर सामंजस्य है, उसका मानव-मन के साथ एक निगूढ़ मेल है - मेल जो सहजज्ञान के द्वारा ही जाना जा सकता है, तर्क के द्वारा प्रमाणित नहीं किया जा सकता।

जब सौन्दर्य पूर्ण विकसित होकर अपनी प्रगलभता छोड़ देता है तो उसमें और मंगल में कोई अन्तर नहीं रह जाता। दोनों एकाकार हो जाते हैं। "पुष्प अपनी वर्ण-गन्ध की अधिकता को फल की गम्भीर मधुरता में परिणत कर देता है और उसी परिणति में ही, उसी चरम विकास में ही सौन्दर्य और मंगल का समन्वय हो जाता है। जिस पुण्य स्थान पर भगवान बुद्ध ने मनुष्यों के दुःखों की निवृत्ति के मार्ग का आविष्कार किया था, राजा चक्रवर्ती अशोक ने वहीं, उसी परम मंगल के स्मरणस्थान में कला के सौन्दर्य की प्रतिष्ठा की।" उज्जैन में क्षिप्रा के तट पर आज भी राठौर वीर दुर्गादास की 'छतरी' उनकी स्वामिभक्ति के सौन्दर्य का प्रतीक बन कर खड़ी है। आज कल मंगल को सौन्दर्य का बाना पहनाने के लिये अष्टधातु की विशालकाय मूर्तियाँ नगरों के चतुष्पथों पर खड़ी की जाती हैं। इनमें से कुछ तो उन धनिकों की होती हैं जिन्होंने स्व के प्रचार-मात्र से प्रेरित होकर बहुत सा धन व्यय कर दिया है। ऐसी मूर्त्तियाँ सौन्दर्य का अनुकरण भले ही हों, सुन्दर नहीं कही जा सकतीं क्योंकि वहाँ सौन्दर्य और मंगल का विच्छेद हो गया है। जो मूर्त्तियाँ वस्तुतः कला-कृतियाँ हैं, जिनमें सुन्दर और मंगल गलबाहीं डाल कर मिल रहे हैं, उनके दर्शन करते ही हमारा हृदय ऐश्वर्य से भर उठता है।

जिस प्रकार 'मंगल' 'सौन्दर्य' के बहुत निकट है, उसी प्रकार 'सत्य' भी उससे बहुत दूर नहीं है। सृष्टि का रहस्य अनेकता के नीचे छिपी हुई एकता में निहित है। यह एकता ही सत्य है और इस सत्य के दर्शन में ही सौन्दर्य का दर्शन है। अंग्रेज कवि कीट्स की अनुभूति 'ट्रुथ इज़ ब्यूटी, ब्यूटी ट्रुथ' का रवीन्द्र यही सन्दर्भ मानते हैं।

बहुधा कहा जाता है कि कवि कल्पना के लोक में रहता है, सत्य के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। वस्तुतः इसका विपरीत ही सत्य है। कवि या कलाकार ही सृष्टि की एकता अर्थात् सत्य को देखता है और उस सत्य के, सौन्दर्य

के, शिव के दर्शन करने से जो आनन्दानुभूति उसे होती है, उसे कला या साहित्य में अभिव्यक्त करता है। वस्तुतः अपने आप को वैज्ञानिक तथा बुद्धिवादी कह कर झूठे गर्व का अनुभव करने वाले ही सत्य से दूर हैं, कारण कि सत्य को जानने की उनकी पद्धति ही गलत है। जो एक है, अखण्ड है, उसे वे विश्लेषण के द्वारा जानने की चेष्टा करते हैं। उनकी चेष्टा के सफल होने में सन्देह ही सन्देह है।

आकाश के नक्षत्र चल हैं अथवा अचल ? दूर से देखने पर वे अचल हैं, निकट से देखने पर चल हैं। नक्षत्रों के सम्बन्ध में ये दोनों तथ्य समान रूप से सही हैं। 'दूर' तथा 'निकट' के तथ्य परस्पर भिन्न हैं। हैं वे तथ्य ही। ये दोनों तथ्य, जिस एक वस्तु से सम्बन्ध रखते हैं, जिसके स्वामित्व को स्वीकार करते हैं, वही सत्य है। इस सत्य के सम्बन्ध में ईषोपनिषद् का तत्वदर्शी कहता है 'वह चल है, वह अचल है, वह दूर है, वह निकट है।'

कोरे विज्ञान के विश्वासी को इस उक्ति में कोई सार नहीं दिखाई देता। वह इसे 'कान्ट्रडिक्शन इन टर्म्स' कह कर अलग कर देता है। पर देखा जाय तो सृष्टि के रहस्य में एक ऐसा बिन्दु भी है जहाँ अन्तर्विरोध मिल जाते हैं, जहाँ ससीम अपनी सीमाओं को व्यापक बनाते बनाते असीम बन जाता है और असीम अपनी परिधि का संकोच करते करते ससीम बन जाता है। यदि उस बिन्दु को भुला दिया जाय तो वस्तुएँ अपनी यथार्थता से हाथ धो बैठती हैं। यदि हम लोहे के एक टुकड़े को एक बहुत बड़े अणुवीक्षण यन्त्र के नीचे देखें तो हमें केवल उड़ते हुए परमाणु-अंश ही दिखाई देंगे, लोहे का अस्तित्व मिट जायेगा। दही के साथ भी यदि यही किया जाय तो असंख्य बेक्टीरिया के जीवाणु ही देखने को मिलेंगे, दही देखने को न मिलेगा। यह भी हो सकता है कि ऐसा करने के बाद दही खाने की हमारी रुचि भी समाप्त हो जाय। लोहा इसलिये लोहा है और दही इसलिये दही है कि असीम ने ससीम रूप धारण कर रखा है। यही अन्तर्विरोधों के मिलन का बिन्दु है।

आकाश (स्पेस) के सम्बन्ध में जो सत्य है, वह काल (टाइम) के सम्बन्ध में भी है। कुत्ता जिस गन्ध को ग्रहण कर सकता है उसे मनुष्य नहीं कर सकता। भूकम्प की पूर्वसूचक लहरों को बहुत से पक्षी ग्रहण कर लेते हैं. मनुष्य नहीं कर सकता। उनका समय और हमारा समय एक सा नहीं होता। हमारा स्वप्नावस्था और जाग्रदवस्था का समय भी भिन्न होता है। स्वप्न में हम अनेक वर्षों की घटनायें कुछ ही मिनटों में देख जाते हैं। यदि हम अपने समय के केन्द्र-बिन्दु को इच्छानुकूलित कर सकें तो एक निर्झर को अचल और एक वन को चल रूप में देख सकेंगे।

रवीन्द्र की मान्यता है कि वस्तुओं का रहस्य उनकी गतिशीलता में है। हम पुस्तक पढ़ते हैं। पुस्तक में कई अध्याय होते हैं। वे समस्त अध्याय गतिशील होकर

ही पुस्तक का मर्म समझाते हैं। अध्याय का मर्म समझाने वाले वाक्यों को भी गतिशील होना पड़ता है और वाक्य का मर्म समझाने वाले शब्दों को भी। सृष्टि का रहस्य समझने के लिये भी समस्त क्षणिक (ट्रांज़िएन्ट) पदार्थ शाश्वत (इटर्नल) की ओर बढ़ रहे हैं और उनके इस बढ़ने में ही उनकी सार्थकता है।[1]

रवीन्द्र साहित्य व कला को स्वान्त:सुखाय नहीं मानते। कवि की रचना का लक्ष्य वह पाठक-समाज को ही मानते हैं। कहा जाता है कि कवि तो उल्लास भरे मुक्त पक्षी की तरह आत्मविभोर होकर गाता है और अपने ही लिये गाता है। रवीन्द्र का कहना है कि पक्षी जब गाता है, तो कौन जानता है कि वह विहग-समुदाय को बिल्कुल ही अपना लक्ष्य नहीं बना रहा ? यदि कविता जन-समुदाय या समाज के लिये या लोक-हित के लिये या किसी अन्य उद्देश्य के लिये लिखी जाती है तो यह न समझना चाहिये कि उसकी पवित्रता में कोई कमी आ गई है या वह स्वत: स्फूर्त नहीं है। 'माता का दूध सन्तान के लिये होता है और इसीलिये क्या वह स्वत: स्फूर्त नहीं होता ?"

रवीन्द्र कला को कला ही के लिये मानते हैं। 'कला, कला के लिये' का नारा एक प्रकार की कट्टरता का हामी है और कट्टरता सदा प्रतिक्रिया (रिएक्शन) ही होती है। प्रतिक्रिया सत्य से दूर होती है। रवीन्द्र को यह मानने में तनिक भी हिचक नहीं कि कला, आनन्द के लिये है - आनन्द जो निष्काम होता है।

कला और साहित्य को रवीन्द्र एकमात्र वर्तमान की ही वस्तु नहीं मानते। कलाकार अपनी कला का लक्ष्य मानव-समाज को तो बनाता है पर उस मानव-समाज को जो सब काल का है। अत: किसी कलाकृति पर केवल वर्तमान का ही निर्णय सब कुछ नहीं है। जिस वस्तु को चिरकाल के लिये निर्मित किया जाता है उसके लिये आज के आलोचकों की सम्मति के आधार पर ही कैसे निर्णय दिया जा सकता है ? अनन्त की परिदर्शनशाला में ही उसका महत्व आँका जाना चाहिये।

---

1. In movement lies the meaning of all things, because the meaning does not entirely rest in the things themselves, but in that, which is indicated by their out-growing of their limits. Thus neither the transitory, nor the eternal has any meaning separately. When they are known in harmony with each other, only then, through help of that harmony, we cross the transitory and realise the immortal.
   – The World of Personality.

2

कवि अरविन्द की काव्य-दृष्टि

यह सही है कि महर्षि अरविन्द जितने योगी-रूप में प्रसिद्ध हैं, उतने दार्शनिक रूप में नहीं और जितने दार्शनिक रूप में ज्ञात हैं, उतने कवि-रूप में नहीं। पर इसका यह अर्थ नहीं कि उनका कवि, उनके दार्शनिक या उनके योगी रूप से किसी भाँति बौना है। वस्तुतः अपनी योग-साधना के माध्यम से उन्हें जो सूक्ष्म अन्तः दृष्टि प्राप्त हुई थी, उसी के प्रकाश में पहचाना गया आत्म एवम् विश्व-सत्य उनका दर्शन बन गया था और उसी की आर्द्रता में भीग कर अनुभूतिमय काव्य बन गया था। 'द लाइफ डिवाइन' उनके दार्शनिक रूप को व्यक्त करता है तो 'सावित्री' महाकाव्य उनके कवि-रूप से हमारा परिचय कराता है। पर कम ही लोग जानते होंगे कि अरविन्द ' द फ्यूचर पोएट्री' ग्रन्थ का प्रणयन कर काव्य-शास्त्र के मर्मज्ञ आचार्य के रूप में भी सामने आये हैं। इस ग्रन्थ में तथा सावित्री महाकाव्य पर पाठकों से हुए पत्राचार में उन्होंने अपनी सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि का गहरा परिचय दे दिया है।

अरविन्द के अनुसार ऐन्द्रियता समस्त कला का उद्गम है। वह कला का सतत सन्दर्भ-बिन्दु तथा उसके द्वारा प्रयुक्त प्रतीकों एवं दृश्य-बिम्बों का अक्षुण्ण स्रोत है। यह वह धरती है जहाँ से उड़कर कला अदृश्य लोक-विहारिणी या 'व्योम कुंजों की परी' बनने में समर्थ होती है। पर बाह्य जगत् के इन्द्रिय ग्राह्य सत्य को अंकित करना उसका लक्ष्य नहीं है। इन्द्रियाँ वस्तुतः पदार्थों और प्राणियों का केवल सतही बिम्ब-ज्ञान ही मस्तिष्क में ला सकती हैं और वह भी नितान्त अप्रत्यक्ष ज्ञान। सत्य जो सतही रूपों से कहीं अधिक गहन और व्यापक होता है, इन्द्रियों की पहुँच से परे है। कला की सार्थकता तो दृश्यमान सत्ता की पृष्ठभूमि में निहित प्रच्छन्न सत्य का उद्घाटन करने में, अनेकता के नीचे छिपी हुई एकता के प्रकटीकरण में है। कलाकार अपनी विकसित अन्तश्चेतना या 'हृदय की आँखों' से उस प्रच्छन्न सत्य का साक्षात्कार करता है और अपनी बिम्बात्मक कल्पना की सहायता से अनुभूत सत्य का, एक निज का अन्तरंग दृश्य-संसार निर्मित करता है। वह एक ऐसे सत्य को सार्थक आकार देता है जिसका उसने अन्तर्मन में निर्माण किया है—फिर वह सत्य चाहे स्वर्ग का हो, चाहे नर्क का, पर कभी भी जो बाह्य जगत् का इन्द्रिय-प्रत्यक्ष सत्य नहीं होता।

कलाकृति के अंकन का आधार यह प्रत्यय-सत्य ही हो सकता है। इसीलिये कला, अरविन्द की दृष्टि में सृजन करती है, मात्र पुनरुत्पादन नहीं।[1]

अरविन्द काव्य-सृजन जैसी गंभीर, सूक्ष्म और अनिर्वच वस्तु को परिभाषित करने के पक्ष में नहीं हैं। इसे वे सरस्वती की वीणा को खंड खंड कर उसके संगीत को समझने के प्रयास जैसा मानते हैं और कहते हैं कि वैज्ञानिक विश्लेषण का लक्ष्य सदा एक संकीर्ण तथा अनुर्वर मनोरंजन मात्र होता है।[2] तथापि काव्य के प्रयोजन, उसके उपकरण, उसके अंग आदि के कुछ विवरण उसके स्वरूप को समझने में अवश्य हमारी सहायता कर सकते हैं।

काव्य में जो डूब नहीं पाता, उस सामान्य प्रशिक्षणहीन व्यक्ति के लिये वह श्रवणेन्द्रिय या कल्पना के सुख के अतिरिक्त कुछ नहीं है। काव्य से इस सुख की अपेक्षा हम अवश्य करते हैं पर वाह्य ऐन्द्रिय सुख तथा आन्तरिक कल्पना-सुख मात्र प्रारंभिक तत्त्व हैं। इनसे उन्नततर बुद्धि-सुख है पर वह भी काव्य का चरमोच्च लक्ष्य नहीं है। कर्णेन्द्रिय, कल्पना या बुद्धि जिस प्रकार काव्य का सृजन नहीं कर सकते, उसी प्रकार काव्यानन्द को ग्रहण करने में भी असमर्थ हैं। उसका वास्तविक स्रष्टा व भोक्ता तो आत्मा ही है। लयात्मक वाणी के शब्द आत्मा में जितनी गहराई तक पहुँच कर उसे विद्ध करें, कविता उतनी ही महान होती है। अत. काव्य जब तक साधनों (इन्द्रिय, मन, बुद्धि) के सुख को उत्कर्षित कर आत्मानन्द में परिवर्त्तित न कर दे तब तक समझना चाहिये कि काव्य अपना सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य प्राप्त करने में असफल रहा है। कवि स्वयं काव्य-सृष्टि के क्षणों में ऐसे ही दिव्य, अतीन्द्रिय आनन्द की अनुभूति करता है और अपनी सक्षम अभिव्यक्ति के द्वारा उन समस्त श्रोताओं व पाठकों को भी आनन्द-विभोर कर देता है जो ऐसा होने के इच्छुक होते हैं।

दूसरी ओर अति प्रशिक्षित आलोचक तथा अतिबौद्धिक संचेतना से ग्रसित विवेचक काव्य को निर्दोष-रचना-कौशल या टेक्नीक मात्र मानते हैं। इसमें सन्देह

---

1. All art worth the name must go beyond the visible, must reveal, must show us something that is hidden, and in its total effect not reproduce but create.

   Shri Aurobindo, The Future Poetry, Introductory, p. 8.

2. Not that we need spend a vain effort in labouring to define anything so profound, elusive and indefinable as the breath of poetic creation : to take the myriad stringed harp of Saraswati to pieces, for the purpose of scientific analysis must always be a narrow and rather barren amusement.

   Ibid, p. 12.

नहीं कि निर्दोष टेक्नीक श्रेष्ठ काव्य की निष्पन्नता की दिशा में प्रथम सोपान है पर कभी कभी इसका अभाव भी मीरां, कबीर, दादू जैसे प्रतिभा-सम्पन्न कवियों के मार्ग में बाधा नहीं उत्पन्न करता । टेक्नीक का चाहे कितना ही महत्त्व हो, अन्य कलाओं की अपेक्षा काव्य में वह बहुत गौण होती है और इसके कारण हैं ।

काव्य का माध्यम लयात्मक शब्द है जो बहुत ही सूक्ष्म एवं अभौतिक तत्वों से युक्त होता है । कलाकार के पास जितने साधन हैं. लयात्मक शब्द उनमें सर्वाधिक संकुल, मृदु और व्यंजक होने के कारण उसकी अनेक दिशाओं में अपार संभावनाएँ हैं । उसमें तीन पृथक् मूल्य निहित होते हैं । प्रथम है उसका ध्वनि या संगीत-मूल्य जो ऐन्द्रिय तत्त्व होते हुए भी नितान्त अभौतिक होता है । दूसरा इसका अर्थ या विचार-मूल्य है जिसका सम्बन्ध हमारी बुद्धि से है । फिर ये दोनों मूल्य, पृथक् एवं संयुक्त रूप से आत्म या प्राण-मूल्य का निर्माण करते हैं जो शब्द की अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण एवं असाधारण शक्ति है । जहाँ तक टेक्नीक का प्रश्न है, कला-सृजन के क्षणों में अन्य कलाकारों की अपेक्षा कवि सबसे कम सचेतन होता है । सृजन-कर्म में लीन कवि के लिये टेक्नीक का ज्ञान उसकी संचेतना का एक गौण भाग बन जाता है, यहाँ तक कि प्रेरणा के चरम क्षणों में तो उसे एक प्रकार से विस्मृत कर देने का भी अधिकार कलाकार को रहता है क्योंकि तब उसका ध्वनि-संगीत व शैली का उत्कर्ष उसकी आत्मा के तदाकार रूप में स्वतः स्फूर्त होकर आता है । वाणी का यह परमोच्च रूप ही काव्य का शाश्वत तत्व है और इस की स्वल्प-सी मात्रा भी कवि के शेष कृतित्व को विस्मृत होने से बचा लेती है ।[1]

हमारी सामान्य वाणी, भाषा या शब्दों का प्रयोग संप्रेषण की एक संकुचित व्यावहारिक उपयोगिता के लिये ही करती है । ऐसा करते हुए हम शब्दों का प्रयोग विचारों के रूढ़ प्रतीकों के रूप में करते हैं, वैसा ही जैसा मशीनों एवं औजारों का होता है । यह सोच कर कि जीवन के लिये उपयोगी ये शब्द स्वयं जीवनशून्य हैं, हम आवश्यकता पड़ने पर अपने स्वर के बलाघात या संवेग-शक्ति में उनमें 'वह कुछ' भर देना चाहते हैं जो उनमें नहीं है । पर यदि हम भाषा के उद्गम पर दृष्टि डालें तो पायेंगे कि तब शब्द न केवल अपनी निजि की एक वास्तविक और विशद प्राणवत्ता रखते थे बल्कि उनके प्रयोक्ता भी आज के प्रयोक्ताओं से कहीं अधिक उसके प्रति सचेतन थे । भाषा की आदिम प्रकृति स्पष्ट बौद्धिक विचारों की नहीं संवेदनों,

---

1 For then the perfection of his sound movement and style come entirely as the spontaneous form of his soul. It is this highest speech which is the supreme poetic utterance, the immortal element in his poetry, and a little of it is enough to save the rest of his work from oblivion.
—Ibid. p. 15

भावनाओं एवं सूक्ष्म ब्योरों वाले व्यापक अनिश्चित प्रभावों का प्रतिनिधित्व करती थी। सुनिश्चितता और निर्दिष्टता का बौद्धिक आग्रह तब एक गौण व आनुषंगिक बात रही होगी जो भाषा के क्रमिक विकास के साथ अधिकाधिक हावी होती चली गई।

आज 'भेड़िया' शब्द से हमारी बुद्धि को मात्र एक प्राणी विशेष का बोध होता है, शेष हमें स्वयं करना होता है। संस्कृत शब्द 'वृक'[१] भी अन्ततः वही करने लगा। पर प्रारम्भ में वह मनुष्य और भेड़िये के बीच के संवेदनात्मक सम्बन्ध को व्यक्त करता था और ऐसा शब्द के एक निश्चित उच्चारण द्वारा होता था जो चीर डालने के संवेदन को सहज ही प्रकट कर देता था। इस प्रकार प्रारम्भिक भाषा में एक सशक्त जीवन, एक प्रकृत काव्यात्मक वेग रहा होगा जो अब लुप्त हो चुका है, भले ही निश्चितता, स्पष्टता और उपयोगिता में उसने बहुत उन्नति कर ली हो।

कविता एक प्रकार से पीछे लौट कर यथाशक्ति इस मूलभूत तत्व को प्राप्त करती है। यह प्राप्ति, अंशतः रूढ़ संवेदनात्मक जड़ता के स्थान पर, बिम्ब पर बलाघात करके और अंशतः ध्वनि की संकेतात्मक शक्ति पर अधिक ध्यान देकर की जाती है। फिर कविता इस तत्व का सहयोग बुद्धि-प्रदत्त निश्चयात्मक तत्त्व के साथ कराती है और ये दोनों तत्व एक दूसरे को बल प्रदान करते हैं। इन दोनों तत्त्वों के माध्यम से यह वाणी की क्षमता को एक और भी उन्नततर अनुभूति की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति के धरातल तक उठाने में सफल होती है और वह है शब्द की आत्मा।

गद्य-शैली शब्द के बौद्धिक मूल्य को अपना सुदृढ़ आधार बनाती है। यह उस लय-ताल को भी अपनाती है, सामान्य वाणी जिसकी उपेक्षा कर देती है अर्थात् शब्दों का ऐसा अनुकूल संयोजन करती है कि अर्थ में सुखदता व बौद्धिक स्पष्टता उत्पन्न हो जाय। अतिरिक्त इसके, वह निम्नलिखित को भी अपना लक्ष्य बना सकती है :—

(1) भाषा की विभिन्न शक्तियों द्वारा अतिरिक्त प्रभविष्णुता की उत्पत्ति।

(2) संवेगों को उद्बुद्ध करने के लिये एक निश्चित लय-ताल का निर्माण।

(3) काव्य-पद्धति से बहिरंग साम्य उपस्थित करने के लिये बिम्बों का स्वच्छन्द प्रयोग।

पर वह इन बिम्बों का प्रयोग अलंकारों के ही रूप में करती है ताकि वस्तु या विचार को अधिक शक्तिशाली रूप में उपस्थित किया जा सके। इसके द्वारा

1. वृक' का शाब्दिक अर्थ 'चीरने वाला' है।

बिम्बों का वह तलस्पर्शी उपयोग नहीं होता जो कवि का अभीष्ट है। बुद्धि की दो शक्तियाँ—तर्क व रुचि—स्वभावतया गद्य-शैलीकार का चरमाराध्य ईश्वर हैं पर कवि के लिये वे गौण देवियाँ हैं। यदि गद्य-शैली इस सीमा का अतिक्रमण कर बिम्बों का प्रयोग मात्र 'विज़न' के लिये करने लगे तो वह कविता के क्षेत्र में प्रवेश कर जाती है और गद्य का ढीला वस्त्र पहने गद्य-काव्य, या कभी कभी विशुद्ध काव्य भी बन जाती है।

पर कवि का विशेषाधिकार इससे आगे बढ़कर वाणी के उस प्रखर प्रकाशन, उस प्रेरक शब्द की खोज करना है जिसमें दिव्य लयात्मक संगीत एवम् अर्थ-गांभीर्य का संगम हमारी आत्मा के उत्स से फूटने वाली असीम मन्त्रणाशक्ति से होता है। और तभी 'मन्त्र' उसके कण्ठ से फूट निकलता है। आत्मा में देखे गये 'विज़न' से उत्पन्न एक विशिष्ट आध्यात्मिक उत्तेजना से इसका उद्गम होता है और यह ईश्वर, प्रकृति, मनुष्य, पशु-पक्षी, यहाँ तक कि जड़ पदार्थ से भी संबंधित हो सकता है। आवश्यक केवल इतना है कि द्रष्टा तो आत्मा ही रहे और इन्द्रियाँ, मन व मस्तिष्क आत्मा के निष्क्रिय साधन मात्र रहें। तभी हम श्रेष्ठ काव्य की आशा कर सकते हैं। काव्य का स्तर उसी अनुपात में गिर जाता है जिस अनुपात में वह हमारे निम्नतर अस्तित्व को आकर्षित करता है।

उन समस्त चीज़ों में जिन्हें वाणी अभिव्यक्त कर सकती है,दो तत्त्व आवश्यक रूप से होते हैं—बाह्य या करण तत्व तथा आन्तरिक या साध्य तत्व। यह साध्य तत्व ही सत्य का वृहत्तर रूप होता है और इसी के दर्शन तथा उस दर्शन से उत्पन्न होने वाले आनंद के लिये कवि सचेष्ट रहता है—उस सौन्दर्य के लिये जो सत्य है और सत्य, जो सुन्दर है और इसीलिए जो सतत आनन्द का स्रोत है।[1]

"मंत्र" गहनतम आध्यात्मिक सत्य की कवित्वमय अभिव्यक्ति है और यह तभी संभव है जब कवित्वमय वाणी की तीन उच्चतम प्रखरताएं समन्वित होकर अविभाज्य रूप से एक हो जायें। वे प्रखरताएँ हैं :—

1—लय-ताल की उच्चतम तीव्रता।

2—भाषा-रूप, विचार-तत्त्व व शैली की उच्चतम प्रखरता।

3—आत्मा द्वारा सत्य के दर्शन की श्रेष्ठतम प्रकृष्टता।

---

1. It is this greater truth and its delight and beauty for which he is seeking, beauty which is truth, and truth beauty and therefore, a joy for ever.. Sri Aurobindo, The Future Poetry, p. 22

काव्य में लय-ताल का एक प्रकार से प्राथमिक महत्त्व है क्योंकि उसके बिना वाग्देवी को शेष सब कुछ अस्वीकार्य है। निर्दोष लय-ताल बहुधा अल्प या ईषत् दृष्टि वाली रचना को भी अमरत्व प्रदान कर देती है। पर यहाँ हमारा आशय मात्र छन्द-गति से नहीं है बल्कि एक गहनतर और सूक्ष्मतर संगीत से, आत्मा के एक लय-ताल युक्त संचरण से है जो छन्द की परिधि में भर उठता है और बहुधा छलक भी जाता है।[1] हमारे भीतर एक और कर्णेन्द्रिय है और उसी को सन्तुष्ट करना स्वर-सामंजस्यकार का वास्तविक लक्ष्य है।

तथापि छन्द, जिससे हमारा आशय ध्वनि के माप अर्थात् मात्रा की एक निश्चित और व्यवस्थित पद्धति से है—असदिग्ध रूप से काव्य संचरण का उपयुक्त भौतिक आधार है। मुक्त छन्द का दृष्टिकोण अन्ततः चल नहीं सकता क्योंकि उसमें चलने की पात्रता नहीं है।[2] संगीत और लय का अपना निज का महत्त्व है—मनोवैज्ञानिक महत्व। प्राचीन भारतवासी जिसे दीर्घजीवी बनाना चाहते थे, उसे छन्दों में ढाल दिया करते थे, यहाँ तक कि दर्शन, विज्ञान, धर्म, अर्थ और विधि तक को उन्होंने छन्द-बद्ध कर दिया था। वे ऐसा केवल स्मृति की सहायता के लिये नहीं करते थे बल्कि जानते थे कि छन्दोबद्ध वाणी में महान प्राकृतिक शक्ति होती है।

कवित्वमय लय-ताल अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचती है जब आत्मा प्रत्यक्ष रूप से अपनी माँग उपस्थित करती है और एक गंभीरतर सन्तुष्टि की आकांक्षा करने लगती है। यह तब संभव होता है जब कवि अपने शब्दों का प्रयोग अत्यन्त कृपणता से करने लगता है ताकि उनकी ध्वनि व उनके संगीत से वह अधिकतम व्यंजना कर सके।

संगीत कवित्वपूर्ण अभिव्यक्ति की प्राथमिक आवश्यकता है क्योंकि ध्वनि-तरंग पर आरूढ़ होकर ही शब्द की विचार-तरंग अग्रसर होती है और यह संगीत-मय ध्वनि-बिम्ब ही है जो विचार या संवेग के प्रभाव को पूर्णता, विस्तार और गहराई देने में सर्वाधिक सहायता करता है। काव्य-शैली का प्रमुख लक्ष्य चित्रित की जा रही वस्तु को कल्पना-दृष्टि व अध्यात्म-बोध के लिये जीवन्त व । उपस्थित करना है।

---

1. But by this we do not mean mere metrical rhythm. There must be a deeper and more subtle music, a rhythmical soul-movement entering into the metrical form and often over-flooding it.
—Ibid pp. 23–24

2. 'Vers Libre' is a view which cannot eventually prevail, because it does not deserve to prevail.
—Ibid p. 24

काव्यमय शब्द की आवश्यक शक्ति हमें देखने की सामर्थ्य देना है, विचारने या अनुभव करने की नहीं। विचार व अनुभूति इस दृष्टि से उत्पन्न हो सकते हैं, उसमें समाहित भी हो सकते हैं पर उसका प्राथमिक उद्देश्य तो दृष्टिदान करना ही है। सामान्य जन इन्द्रिय और बुद्धि से ही देखता है, पर द्रष्टा कहलाने का अधिकारी कवि, आत्मा के प्रकाश में आत्मा ही से देखता है। वह सतही मस्तिष्क की दृष्टि से परे देखता है और व्यंजक शब्द की खोज करता है, मात्र उपयुक्त और प्रभावकारी की नहीं, बल्कि प्रकाशक, प्रेरक व अपरिहार्य शब्द की खोज करता है जो हमें भी देखने को विवश कर देता है। उस शब्द को प्राप्त करना ही काव्यमय शैली का परम पुरुषार्थ है।[1]

जिस प्रकार विवेक दार्शनिक का तथा विश्लेषणात्मक निरीक्षण वैज्ञानिक का अपना गुण है, उसी प्रकार अन्तः दृष्टि कवि की अपनी विशेषता है। समस्त कलाओं की भाँति, काव्य का लक्ष्य भी हमें 'देखना' सिखाना है। कवि के शब्द हमारी बाह्य कर्णेन्द्रिय के भौतिक द्वार से होकर भीतरी कान तक पहुँचते हैं जिसके परिणाम-स्वरूप हमारे अन्तः चक्षु उद्घाटित हो जाते हैं और हम सत्य व सौन्दर्य का एक नवीन लोक देख पाने में समर्थ हो जाते हैं। पर यह सब कुछ दिखा पाने में कवि तभी सफल हो सकता है जब उसने स्वयं इसे देखा हो। अतः महानतम कवि सदा वे हुए हैं जिनके पास ईश्वर, प्रकृति व मनुष्य का सहजबोधमूलक 'विज़न' था, वे नहीं, जिनके पास ऐंद्रिय सौन्दर्य या समृद्ध बिम्बात्मकता या उत्कृष्ट विचार-तत्त्व था।

अधुनातन काव्य में विचार-तत्त्व को चरम मूल्य के रूप में प्रश्रय देने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ने लगी है और यह शेष तत्त्वों को—जो आत्मदर्शन के लिये कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, नकार कर की जा रही है। जीने और विचारने में हम इतने व्यस्त हो गये हैं कि मौन भाव से देखने का हमें अवकाश नहीं रह गया है। अतः कवि से हम अपेक्षा रखते हैं कि भाषा पर अपने असाधारण अधिकार द्वारा, कुछ क्षणों के लिये ही सही, वह हमें जीवन के शाश्वत सत्य का दर्शन कराये। आजकल इसीलिए चारों ओर कवि के 'जीवन-दर्शन' की बात सुनाई पड़ती है और अदने से अदने कवि पर एक दर्शन आरोपित किया जाता दिखाई पड़ता है। इस सन्दर्भ में यह स्पष्टीकरण देना आवश्यक है कि जब 'मैं' कवि को सत्य के द्रष्टा की संज्ञा से अभिहित करता हूँ या 'विज़न' को महान् काव्य का उपयुक्त स्रोत बताता हूँ तो मेरा

---

1. The poet sees beyond the sight of the surface mind and finds the revealing word, not merely the adequate and effctive, but the illumined and illuminating, the inspired and inevitable word, which compels us to see also. To arrive at that word is the whole endeavour of poetic style.
—The Future Poetry, P. 33.

आशय यह नहीं है कि उसके पास कोई तर्काश्रित दर्शन हो, या कि मानवता के लिये कोई सन्देश हो, या युग के ज्वलन्त प्रश्नों का उत्तर हो या मानवता के उद्धार की कोई योजना हो। मनुष्य होने के नाते उसमें यह सब कुछ हो सकता है, पर अपने कवित्व पर जितना ही कम वह इसे हावी होने देगा, उतना ही उसके लिए श्रेयस्कर होगा'।[1] यह सब कुछ उसके काव्य की सामग्री हो सकता है, पर न तो उसकी आत्मा हो सकता है, न लक्ष्य और न उसकी सृजन-क्रिया एवं अभिव्यक्ति का नियामक ही।

धर्मोपदेशक सत्य को ईश्वर की वाणी या सन्देश के रूप में प्रकट करता है। कवि उसे सौन्दर्य की शक्ति के रूप में प्रदर्शित करता है। उसकी व्याख्या या प्रचार करना उसका उद्देश्य नही है। दार्शनिक उसे असत्य से पृथक् कर उसके अंशों में परस्पर बौद्धिक सम्बन्ध स्थापित करता है। बौद्धिक प्रवृत्ति अब भी एक सूक्ष्मतर रूप में हमारी चेतना पर हावी है क्योंकि काव्य में उपदेश देने की दुर्बलता हम छोड़ नहीं पाते हैं। काव्य को जीवन की आलोचना कहना भी कम सांघातिक नहीं है क्योंकि इससे अधिक विनाशकारी परिभाषा काव्य की हो नहीं सकती।

कला को आत्मनिष्ठ होना चाहिए या वस्तुनिष्ठ, यथार्थवादी होना चाहिये या आदर्शवादी, आदि प्रश्न गुमराह अधिक करते हैं, मार्ग-दर्शन कम। वस्तुतः विषय का परम वस्तुनिष्ठ प्रतिपादन भी एक आन्तरिक संदर्शन से, संरचना की एक व्यक्तिनिष्ठ प्रक्रिया से प्रारम्भ होता है क्योंकि कवि की सृष्टि, मकड़ी के जाले की भाँति उसके भीतर ही से होती है, वाह्य चक्षुओं से देखे, भौतिक दृश्यों से नहीं। बाह्य दृश्य आन्तरिक दृष्टि को उत्तेजित कर कर्म में प्रवृत्त अवश्य कर सकते हैं।

निरी वस्तुनिष्ठता हमें कला से उतार कर फ़ोटोग्राफी पर ले आती है और व्यक्तिनिष्ठता के नितान्त लोप की क्रिया, विज्ञान के लिये उपयुक्त है, कला के लिये नहीं। वस्तुओं का वैज्ञानिक प्रतिपादन, बुद्धि के क्षेत्र में चाहे जितना महत्त्वपूर्ण हो, आत्मा के लिये सत्य नहीं होता क्योंकि यह केवल प्रक्रिया, यन्त्र और यान्त्रिक नियमों को ही उपस्थित करता है, उनके आन्तरिक जीवत सत्य को नहीं। यथार्थवाद के सिद्धान्त में यही मिथ्यात्व है।[2]

---

1. As a man, he may have these things, but the less he allows them to get the better of his poetical gift, the happier it will be for his poetry.
—The Future Poetry P. 42.
2. The Scientific presentation of things, however valid in its own domain, that of the senses and the observing reason, is not true to the soul, not certainly the integral truth or the whole vision of things, because it gives only process, and the machinery and the mechanic law of things but not their inner life and spirit. That is the error in the theory of realism.
—Ibid, p. 47.

अतः इस प्रकार के पृथक्करण निरापद नहीं हैं, न कवि के लिये कोई नियम बनाया जा सकता है क्योंकि वह जो देखता है, उसी के तो प्रकाश में वह चलेगा। हाँ, इतना उसके लिये ज़रूर आवश्यक है कि अपने भीतर के जीवन्त काव्यात्मक केन्द्र से ही वह कार्य करता रहे, उससे च्युत न हो। फिर वह इस संसार को भी अपना विषय बना सकता है, इसके परे भी भटक सकता है या सीधे असीम के तेजोमय लोक में उड़ सकता है।

पर काव्यात्मक 'विज़न', अन्य सभी वस्तुओं की भाँति, मानव-मस्तिष्क के विकास का आवश्यक रूप से अनुसरण करता है और युग तथा वातावरण इसके उत्कर्ष और अपकर्ष का निर्धारण करता है। 'विज़न' की प्रखरता मात्र कवि की वैयक्तिक मानसिक क्षमता पर निर्भर नहीं करती, उसके देशकाल के मानस, अनुभव एवं विचार के धरातल, प्रतीकों की क्षमता और उसके द्वारा प्राप्त आध्यात्मिक गहराई पर भी आश्रित होती है। पर आने वाले युग का आश्वासन इन सबसे महान् है यदि वह युग अपनी समस्त संभावनाएँ प्राप्त करले क्योंकि वह एक ऐसा युग होगा जिसमें अनेकानेक लोक मनुष्य की दृष्टि के आगे खुलने लगेंगे।

काव्य मनुष्य की आत्मा की सौन्दर्यमूलक अभिव्यक्ति है, अतः काव्य का विकास, आवश्यक रूप से, आत्मा के विकास का अनुगामी होगा। इस दृष्टि से, कहा जा सकता है कि प्रकृति की आत्मा की भाँति मनुष्य की आत्मा की भौतिक जगत् की संचेतना का विकास है। हमारे विकास की जड़ें भौतिकता की मृदा में से फूटी हैं।

आधुनिक मस्तिष्क चूँकि अधिकाधिक वैज्ञानिक होता जा रहा है और उसकी काव्यात्मक एवं सौन्दर्यात्मक वृत्ति क्षीण होती जा रही है, यह कहा जाने लगा है कि काव्य को विज्ञान के प्रति समर्पण कर देना चाहिए। इसके विपरीत, एक बार यह भी सुझाव था कि काव्यात्मक मानस को और अधिक धनात्मक होना चाहिये तथा उपलब्ध वैज्ञानिक सामग्री का उपयोग कर धर्म और दर्शन का स्थान ले लेना चाहिए जो मृत हो चुके हैं। पर दोनों सुझाव कला-सृष्टि के मूलभूत नियम का अतिक्रम करने के कारण सारहीन व निरर्थक हैं।

भविष्य की पूर्णतर सहजबोधात्मक कविता मनुष्य के भौतिक जीवन से कटी हुई एवं दुर्बोध अभिव्यक्ति वाली रहस्यवादी कविता नहीं होगी। हाँ, उसका कुछ अंश भले ही उसमें हो सकता है। आगामी युग का लक्ष्य न तो विशुद्ध भौतिकवाद होगा, न सहजबोधात्मक प्राणवाद और न दूरवर्ती, विच्छिन्न अध्यात्मवाद होगा बल्कि मानव अस्तित्व की एक समंजस समग्रता होगी जिसकी कुछ झलक ह्विटमैन,

कारपेन्टर, टैगोर आदि के काव्य में पूर्वभासित होने लगी है। यह विचार कि कवि, ऋषि भी होता है, एक बार फिर सामने आ गया है। जिस सहजबोधात्मक व उद्भासक काव्य की ओर हम बढ़ रहे हैं, वह पाँच शाश्वत शक्तियों—सत्य, सौन्दर्य, आनन्द, प्राण और अध्यात्म के श्रेष्ठ सामंजस्य को अभिव्यक्ति देगा। ये काव्य के पाँच सूर्य हैं। अध्यात्म के सत्य व प्राण के सत्य के बीच सेतु बनाना भावी कविता का एक प्रमुख व्यापार होगा।[1]

भारत की यह मान्यता कि आनन्द मुक्त पुरुष की अन्तर्तम अभिव्यक्तिपरक एवं रचनात्मक प्रकृति है, नितान्त सत्य प्रतीत होती है क्योंकि आनन्द, ब्रह्म के मूल-भूत स्वरूप का सार-तत्व है। इधर आनन्द तथा सौन्दर्य कला एवं काव्य की भी आत्मा है। मनुष्य को विशुद्ध आनन्द में लीन करना और उसके जीवन में सौन्दर्य को अवतरित करना कला और काव्य की महत्त्वपूर्ण क्रिया है। पर अन्य वस्तुओं की भाँति यहाँ भी कोटियाँ व ऊँचाइयाँ हैं। आनन्द एवं सौन्दर्य की श्रेष्ठ कोटियाँ वे हैं, जो सर्वोच्च सत्य के साथ, जीवन की पूर्णता के साथ तथा स्वउद्भाषक आत्मा के साथ एकाकार हैं।

सत्य का वह कौन सा रूप है जिसकी माँग हम साहित्य से कर सकते हैं? कवि का वास्ता सत्य से है या सौन्दर्य से है?

कला बाह्य प्रकृति की अनुकृति या पुनरुत्पादन नहीं है, अपितु उसका लक्ष्य एक रूपान्तरकारी शक्ति के सहयोग से एक ऐसा सत्य प्रदान करना है जो बाह्य जीवन की अपेक्षा अधिक आंतरिक व गहन हो। इसके अतिरिक्त सत्य की और भी कोटियाँ हैं यथा बुद्धि का सत्य, दर्शन का सत्य, विज्ञान का सत्य आदि जिनसे काव्य का अधिक सरोकार नहीं।

सत्य, जैसा कि वह अन्तिम रूप में दिखाई पड़ता है, एक सीमाहीन देवत्व है। कविता, सौन्दर्य के अपने माध्यम से, इस सीमाहीन सत्य की झलक देने में सफल होती है। यह अनन्त असीम सत्य धर्म, दर्शन, विज्ञान, काव्य आदि अनेक दिशाओं में आत्माभिव्यक्ति एवं आत्म-प्राप्ति करता है। इन दिशाओं में से प्रत्येक को स्वतन्त्र व पृथक् करके रखना चाहिए पर इसका यह आशय नहीं कि एक की सामग्री का उपयोग दूसरी द्वारा न किया जाय। दार्शनिक, वैज्ञानिक या धर्मवेत्ता जिस सत्य की

1. An intuitive revealing poetry of the kind which we have in view would voice a supreme harmony of five external powers: Truth, Beauty, Delight, Life and Spirit. These are the five Suns of poetry. The mediation between the truth of the spirit and the truth of life will be one of the chief functions of the poetry of the future.
The Future Poetry pp. 287—88.

अभिव्यक्ति करता है, कवि भी उसी सत्य को रूपायित करता है, पर सौन्दर्य के अपने माध्यम से ।

कविता प्राण की संगीतमय ध्वनि है—ऐसी ध्वनि जो निगूढ़तम है और सतही ध्वनियों से भिन्न है । कवि के काव्य की महानता इस निगूढ़ता के अनुपात में ही होती है ।[1] काव्य का वहिर्गत रूप चाहे जैसा हो, वह वर्णित वस्तुओं की आत्मा को उनकी सम्पूर्ण प्राणवत्ता में उजागर कर दे, तभी उसकी सार्थकता है । अपनी व पदार्थों की आत्मा की खोज में विचार के शुष्क आकाश को पार करते हुए निर्वाण तक पहुँचने की अपेक्षा हमें उस महानतम समग्र शक्ति की खोज करनी चाहिए जो सब अस्तित्वों का अस्तित्व और सब प्राणों का प्राण है ।[2] सत्य के उस व्यापकतर रूप की खोज ने ही टैगोर के काव्य की इतनी त्वरित एवं विश्वव्यापी ख्याति कर दी है ।

आने वाले युगों का काव्य वाह्य वास्तविकताओं से, जिन्हें हम कभी कभी जीवन का पर्याय मान लेने की भूल कर वैठते हैं, बँध कर नहीं रहेगा । यह काव्य एक ऐसे मानस की पुकार होगा जो दृश्यमान भौतिक पदार्थों की विविधता के नीचे की एकता व समग्रता की ओर, अस्तित्वों के अस्तित्व एवं आत्माओं की आत्मा की ओर निरन्तर अग्रसर होता जा रहा है ।

प्रकृति का प्रेमी, उसकी विशालता व शान्ति से संभाषण करने के लिये संसार के कोलाहल से दूर चला जाता था । इसी प्रकार अन्य लोकों का द्रष्टा अति-प्रकृत ध्वनियों एवं रूपों से घिरा रहता था । इन क्षेत्रों में एकान्तवास नितान्त न्याय्य था क्योंकि तभी इन लोकों की 'उपस्थितियों' के साथ निकटतम सम्वन्ध स्थापित किया जा सकता था । इन वस्तुओं व प्राणियों में कोई भी असत्य नहीं है और यदि प्राचीन कवियों द्वारा चित्रित अतिप्राकृत वहुधा कल्पना, पुराण या बुद्धि-चापल्य दिखाई पड़ता है तो केवल इसलिये कि वह दूर से कल्पना के माध्यम से देखा गया है, सच्चें द्रष्टाओं की भाँति आत्मा में जीकर नहीं पहचाना गया ।[3]

---

1. And the more of this inner truth of his vision the poet brings out in his work, the greater is his creation.
   The Future Poetry P 316.
2. To Find ourself and the self of things is not to go through rarefied ether of thought into Nirvana, but to discover the whole, the greatest integral power of our complete existence.
   Ibid, pp. 321
3. None of these things are unreal, and if the Supernatural as handled by older poets seemed often mere legend, fancy and romance, it was because it was seen from a distance by the imagination and not lived in by the soul as is done by the ture seer.
   Ibid, pp, 327—28.

समस्त प्राण एक हैं और एक नवीन मानव-मस्तिष्क, प्राणों की इस एकता और समग्रता को प्राप्त करने की दिशा में गतिशील है। काव्य जो हमारे प्राणों की प्रकृति की, लोकों की, ईश्वर की और सब कुछ की एकता व समग्रता ध्वनित करे, हमारे लौकिक जीवन को अवास्तविक नहीं, अधिक वास्तविक बनायेगा, हीन नहीं, समृद्ध बनायेगा।

आनन्द अस्तित्व की आत्मा है और सौन्दर्य आनन्द का घनीभूत रूप है। ये दोनों मूल तत्त्व कलाकार एवं कवि-मानस के लिये एकीकृत हो जाते हैं, यद्यपि हमारे निरन्तर शारीरिक एवं मानसिक अनुभव में वे बहुधा पर्याप्त पृथक् बने रहते हैं। आधुनिक मस्तिष्क हमारे गहनतम स्वात्म में बहुत कम झाँकता है, उसकी गहराई को नापने में बहुत कम रुचि रखता है; यहाँ तक कि उसके अस्तित्व में भी आस्था नहीं रखता और जीवन के सत्य, आनन्द तथा सौन्दर्य पर ध्यान केन्द्रित न कर उसके परिणामों एवं परिस्थितियों के प्रभाव पर रखता है जिसका सांयोगिक महत्व हो सकता है, कोई सन्तोषकर एवं सामंजस्यपूर्ण अर्थ नहीं निकलता। सतही मस्तिष्क को वे चाहे जैसे मुखौटों में दिखाई पड़ें, पर समस्त अनुभवों की पृष्ठभूमि में एक गम्भीर अन्त: निहित आनन्द और सौन्दर्य समाया होता है। यह गहनतर आध्यात्मिक अनुभूति, यह आनन्द कवि के काव्य-सौन्दर्य का अखण्ड प्रेरणा-स्रोत है। यह उस सत् की, सुन्दरता की चरम अनुभूति से उत्पन्न होता है जिसकी स्वयं की प्रकृति आध्यात्मिक और इसीलिये नितान्त निर्वैयक्तिक है और यही कारण है कि कवि दुःख और विषाद को, भयावह और कुरूप को भी काव्यात्मक सौन्दर्य-रूपों में परिणत कर देता है। कलाकार और कवि के भीतर दो व्यक्तित्व होते हैं—सामान्य जन का और द्रष्टा का। इनमें से पहला अन्य लोगों की भाँति ही सोचता, अनुभव करता और जीता है पर दूसरा विशिष्ट व अतिसामान्य होता है जो सौन्दर्य एवं आनन्द के निर्वैयक्तिक एवं शाश्वत स्रोतों के सम्पर्क में रहता है और अपनी रासायनिक क्रिया से समस्त अनुभव को आनन्द में रूपान्तरित करता रहता है।

सामयिक जीवन और विचार पर बल देकर बाह्य प्रभावोत्पादकता उत्पन्न करने वाला काव्य क्षणिक प्रभाव भले ही डाल दे पर वह भीतर से अत्यन्त निर्बल और खोखला होता है और इसलिये दीर्घजीवी नहीं होता। यही कारण है कि युद्ध, देश-प्रेम और सामयिक घटना-विषयक साहित्य बहुत जल्दी बासी पड़ जाता है।

---

3 कला : क्रोचे की दृष्टि

इतालवी दार्शनिक तथा सौन्दर्यशास्त्री बेनेडेटो क्रोचे (१८६६–१९५२ ई०) 'कला' की संक्षिप्ततम परिभाषा प्रस्तुत करता है, जब वह कहता है कि कला सहजज्ञान है। किन्तु, जब इस सहजज्ञान को स्पष्ट करने के लिए वह विवेचन करने लगता है, कि कला क्या नहीं है, तो उसकी व्याख्या दीर्घतम हो जाती है।

'कला क्या नहीं है' को स्पष्ट करना ऋण परिभाषा है और व्यर्थ है, क्योंकि परिभाषा को सदा धन ही होना चाहिए। यह शंका क्रोचे द्वारा प्रस्तुत की गई परिभाषा के सम्बन्ध में उठाई जा सकती है, किन्तु क्षणभर का पुनर्विचार इस शंका का तात्कालिक समाधान कर देता है, क्योंकि परिभाषा स्वयम् में—कला सहजज्ञान है—एक धन-कथन ही है। कला के प्रति कुछ वस्तुओं का जो निषेध क्रोचे ने किया है, वह पृथक्करण का ही एक रूप है और यह पृथक्करण किया गया है, स्वयम् कला के स्वरूप को अधिकाधिक स्पष्ट करने के लिए।

पहला निषेध जो क्रोचे ने किया है वह यह कि कला या सहजज्ञान कोई भौतिक तथ्य नहीं है। इसका आशय कदाचित् यही है कि कला, मानस की या अन्तर की प्रक्रिया है, जिसका बाह्य भौतिक जगत् से कोई सम्बन्ध नहीं है। यहाँ तक तो ठीक है, किन्तु जब क्रोचे कला की अभौतिकता सिद्ध करने के लिए सारे भौतिक पदार्थों को मिथ्या सिद्ध करता हुआ आदर्शवादी दर्शन के घोंघे में घुस जाता है, तो वह नहीं जानता कि उसने अपने सिद्धान्त के लिए कितने नये संकट और अन्तर्विरोध उत्पन्न कर लिये हैं।

क्रोचे लिखता है : "इस (कला) का सर्वप्रथम निषेध है कि कला एक भौतिक तथ्य है। यह भौतिक तथ्य नहीं हो सकती क्योंकि भौतिक तथ्य अवास्तविक होते हैं, और कि कला, जिसकी साधना लोग जीवन पर्यन्त करते हैं और जो उन्हें अतीन्द्रिय आनन्द से भर देती है, पूर्णतया वास्तविक है। इस प्रकार यह भौतिक तथ्य नहीं हो

सकती, भौतिक तथ्य जो अवास्तविक होता है। प्रारम्भ में यह बात कुछ विचित्र सी प्रतीत होती है क्योंकि साधारण मनुष्य को भौतिक संसार से अधिक ठोस और सत्य वस्तु कोई दूसरी नहीं दिखाई पड़ती। भौतिक जगत् की अयथार्थता न केवल असंदिग्ध रूप से स्थापित हो चुकी है और उन समस्त दार्शनिकों द्वारा, जो कट्टर जड़वादी नहीं हैं और जो भौतिकवाद के स्पष्ट अन्तर्विरोधों से मुक्त हैं, गृहीत हो चुकी है, वल्कि स्वयम् उन भूतवादियों द्वारा भी प्रतिपादित की जा रही है जो अपने विज्ञान में एक निसर्ग मनोनुकूल दर्शन का मिश्रण कर रहे हैं, यह कह कर कि भौतिक पदार्थ ऐसे सिद्धान्तों की उपज हैं जो अनुभव की सीमा से परे हैं—जो परमाणु हैं, जो ईथर हैं या जो किसी अज्ञात का प्रकटीकरण हैं।"[1]

यहाँ भौतिकवाद और प्रत्ययवाद (आयडियलिज्म) की दार्शनिक गहराइयों में प्रवेश न कर केवल इतना ही कहना उपयुक्त होगा कि यदि भौतिक जगत् की सत्ता न मानी जाय तो मानस पर पड़ने वाले जिन संस्कारों या प्रभावों की बात क्रोचे सर्वत्र करता है, वे क्योंकर सम्भव होंगे ? क्या यह सोचा भी जा सकता है कि मानस मे निर्मित होने वाले विम्वों की प्रेरणा मानस स्वयम् ही है ? मनुष्य के चतुर्दिक् जो वातावरण है, क्या मानसिक विम्वों के निर्माण में उसका कोई योग नहीं है ? कम से कम आधुनिक मनोविज्ञान तो ऐसा नहीं मानता।

वस्तुतः क्रोचे स्वयम् ऐसा नहीं मानता। जिस प्रकार वेदान्त ने दृश्य जगत् की व्याख्या करने के लिए माया या अज्ञान का पल्ला पकड़ा, उसी प्रकार अन्य विचारवादियों की भाँति क्रोचे ने भी स्थापना की कि मानस, अपने स्वयम् के लिए वाह्य भौतिक जगत् की कल्पना कर सकता है। किन्तु दोनों ही दार्शनिक पद्धतियों में यह सिद्धान्त स्पष्टतः ऊपर से चिपकाया हुआ प्रतीत होता है।

यदि क्रोचे वाह्य जगत् को सत्य मान लेता, तो भी उसकी कला के स्वरूप को हानि होने की सम्भावना नहीं थी। क्रोचे को यही तो कहना था कि सहजज्ञान की अन्तःप्रक्रिया मानसिक होती है, भौतिक नहीं। और यह मानने में किसे आपत्ति हो सकती थी कि अन्तःप्रक्रिया भौतिक नहीं हो सकती ? इसके लिए सम्पूर्ण वाह्य भौतिक जगत् को असत्य ठहराने का कष्ट अनावश्यक ही था।

तथ्य की वात केवल इतनी है कि क्रोचे न तो कला की प्रेरणा वाह्य जगत् से मानता है और न वाह्य पदार्थों के रूप में उसकी अभिव्यक्ति ही स्वीकार करता है। उसकी उक्ति कि कला भौतिक तथ्य नहीं है, को इसी अर्थ में ग्रहण करना चाहिए।

---

1. Benedetto Croce : The Essence of Aesthetic pp. 1—2.

स्पष्ट है कि क्रोचे ने कला के समस्त व्यापार को व्यक्तिमानस के भीतर ही सीमित कर दिया है। उसकी कला आकाश-कुसुम की भांति न-कुछ से जीवन-रस खींचती हुई फलती-फूलती रहती है और आलोचक-दर्शक के दृष्टि-पथ से सदा सर्वदा के लिए अदृश्य रहती हुई अपने कल्पित सौन्दर्य-भाव में समासीन रहती है। समुद्र के मध्य में किसी चट्टान पर खड़े हुए उत्तुँगसौध मन्दिर में किसी सुन्दरी राजकन्या की भाँति, जिसे आज तक किसी ने नहीं देखा, वह बन्दिनी है।

तो क्या कला अथवा सहजज्ञान की अभिव्यक्ति होती ही नहीं? यदि अभिव्यक्ति से अर्थ बाह्य भौतिक अभिव्यक्ति से है, तो क्रोचे का कहना है कि वह कभी नहीं होती। कारण यह है कि मानसिक प्रक्रिया की सूक्ष्मता को भौतिक पदार्थों की स्थूलता प्रकट कर ही नहीं सकती। ध्वनि अथवा रंग भीतरी सहजज्ञान को, जो ध्वनि-रहित और रंग-रहित है, क्योंकर अभिव्यक्त कर सकते हैं? शरीर क्योंकर अशरीरी को प्रकट कर सकता है? दूसरी ओर, यदि अभिव्यक्ति से अर्थ लिया जाता है मानसिक बिम्ब की पूर्णता का, तो प्रत्येक सहजज्ञान की स्थिति, यदि वह वास्तव में सहजज्ञान है, अनिवार्य रूप से अभिव्यक्त होती है। क्रोचे की तो मान्यता है कि सहजज्ञान स्वयम् ही अभिव्यक्ति है [1]। दोनों में भेद करना एक प्रकार का मतिभ्रम है। सहज ज्ञान और अभिव्यक्ति के इस अभेद के कारण ही क्रोचे के कला-दर्शन को 'अभिव्यक्तिवाद' की संज्ञा मिली है।

क्रोचे के मत में कला कोई यान्त्रिक क्रिया नहीं है। यह अव्यवस्थित बिम्बों की भीड़भाड़ नहीं है जिसमें किसी प्रकार की एकता का सूत्र नहीं होता। वास्तव में सहजज्ञान नितान्त कलात्मक है जिसमें अनुभूति का धागा विविध बिम्बों को परस्पर ग्रन्थित कर उनमें एकता स्थापित करता है और उसे सजीवता प्रदान करता है।

हमारा मस्तिष्क निरन्तर प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर बिम्ब अथवा अर्द्ध बिम्ब निर्मित करता रहता है जो या तो आगे बढ़ कर बुद्धि के सहयोग से धारणा (कॉन्सेप्ट) बन जाते हैं अथवा लौट कर पुनः साधारण बिम्ब की स्थिति ग्रहण कर लेते हैं। जब हमारी कल्पना बिम्बों पर कुछ काल तक सक्रिय बनी रहती है और उन्हें नितान्त स्पष्ट रूप में देखने लगती है, तो मानस की वह अवस्था-विशेष सहजज्ञान अथवा कला को जन्म देती है। बिम्बों में एकता स्थापित करते हुए उन्हें सहज-स्पष्ट रूप में

---

1. Every true intuition or representation is, also, expression. That which does not objectify itself in expression is not intuition or representation, but sensation and naturality. The spirit does not obtain intuition otherwise than by making, forming, expressing. AEsthetic as Science of Expression and General Linguistic. Translated by Douglas Ainslie.

देखना ही सहजज्ञान है, और यही अभिव्यक्ति है। ध्यान में रखने की बात यह है कि ये विम्ब मानसिक विम्ब हैं, मस्तिष्क पर वाह्य भौतिक पदार्थों के प्रतिफलित होने वाले रूप नहीं।

यह सत्य है कि क्रोचे के अनुसार एक ऐसी स्थिति भी आती है जब कलाकार, यदि वह चाहे (यह अनिवार्य नहीं है) तो अपनी अभिव्यक्ति को जो नितान्त मानसिक है, वाह्य भौतिक रूप भी प्रदान करे। किन्तु इस वाह्यात्मक अभिव्यक्ति का वास्तविक या कलात्मक अभिव्यक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि कोई कवि अपनी सहजानुभूति को शब्दों के रूप में लिख कर या बोल कर प्रकट करता है तो यह कला नहीं है क्योंकि यहाँ इच्छित प्रयत्न होने से अनुभूति की सहजता भंग हो जाती है। ये वाह्यीकरण (एक्सटर्नेलाइज़ेशन) के प्रयत्न केवल स्मृति-चिन्ह हैं और उन्हें जब हम सुन्दर कहते हैं, तो हमारा आशय केवल इतना ही है कि उनकी सहायता से हम मानस की उन दशाओं का पुनर्दर्शन कर सकते हैं जब हमें सुन्दर सहजानुभूतियाँ प्राप्त हुई थीं।

क्रोचे ने कला को इतना व्यक्ति-सापेक्ष बना दिया है कि कला की आलोचना के लिए कोई स्थान नहीं रह गया है। कलाकार के मानस में प्रविष्ट होकर आलोचक यह देखने में असमर्थ है कि बिम्ब अपने एकात्म और स्पष्ट रूप में उभर सकता है अथवा नहीं। दूसरी ओर काव्य, चित्र, मूर्त्ति, स्वर आदि जो कला के वाह्य भौतिक रूप उपलब्ध हैं, वे अपनी भौतिकता के कारण आलोचक के भीतर वही मानसिक प्रक्रिया क्यों कर उत्पन्न कर सकते हैं, विशेषकर जब कि क्रोचे ने सहजज्ञान को व्यक्तिगत एवम् अनावर्त माना है ?

इस कठिनाई को क्रोचे ने स्वीकार किया है, तथापि उसका कहना है कि यद्यपि भौतिक कला-कृतियाँ आलोचक को सर्वांश में कलाकार की अन्तः स्थिति तक नहीं पहुँचा सकतीं, तथापि यदि उसके पास कलात्मक रुचि हो, शिक्षित कल्पना हो और ऐतिहासिक गवेषणा की उपलब्धियाँ हों तो वह कलाकार के मन की उस सहजावस्था तक मार्ग बना सकता है, जहाँ कला का जन्म हुआ था। पर, न नौ मन तेल होगा, न राधा नाचेगी।

वस्तुतः क्रोचे ने अभिव्यक्ति को आन्तरिक मानकर वड़ी गड़वड़ की है। जहाँ शेष सभी सौन्दर्यशास्त्रियों ने उसे भौतिक स्वरूप प्रदान करना आवश्यक समझा है, क्रोचे ने उसे अन्तर्मुखी बना दिया है। 'मो को कहाँ ढूंढ़े रे बन्दे, मैं तो तेरे पास में,' वाली स्थिति है। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि एक ओर तो बुरे से बुरा विषय भी कला की सामग्री बनने लगा, कारण कि कला तो रूप के स्पष्ट दर्शन में है

प्रतिपाद्य विषय में नहीं, दूसरी ओर 'कला' के नाम पर मनमानी सनकों (एक्सेन्ट्रिसिटीज़) की अभिव्यक्ति एवम् रक्षा होने लगी।

कला के सम्बन्ध में जो द्वितीय ऋण-कथन क्रोचे ने किया है वह यह कि कला कोई उपयोगितावादी कार्य नहीं है। आज के इस युग में जब कला को प्रत्येक ज्ञान क्षेत्र में, ज्ञान-क्षेत्र ही नहीं व्यवहार-क्षेत्र में भी, साधन बना कर उसका शोषण किया जा रहा है, कला के उपयोग का निषेध कर क्रोचे ने एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया है। कला आज अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, राजनीति एवम् अन्य अनेक ज्ञान-क्षेत्रों की लादी बन कर रह गई है। क्या कला एक साधन मात्र है या कि वह अपने आप में साध्य है ?

क्रोचे ने कला को साध्य माना है। उसके निरपेक्ष और स्वतन्त्र अस्तित्व की उसने घोषणा की है। उसका कहना है कि इस विश्व में पूर्णतया स्वतन्त्र और आत्म-निर्भर अस्तित्व तो केवल ब्रह्म (एब्साल्यूट) का है, शेष सभी वस्तुएँ एक ओर निरपेक्ष हैं तो दूसरी ओर सापेक्ष।

जिस प्रकार मार्क्स सामाजिक चेतना की सोपानमूलक व्याख्या करता है, उसी प्रकार क्रोचे व्यक्तिगत चेतना की चक्रमूलक व्याख्या उपस्थित करता है। कलाकार संवेदनों (सेन्सेशन्स) को एक निश्चित, स्पष्ट बिम्ब में प्रतिरूपित कर सहजज्ञान की स्थिति में पहुँचता है और अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त करता है। जिस उद्देश्य को लेकर वह चला था उसकी पूर्त्ति हो चुकी है। किन्तु कलाकार व्यक्ति केवल कलाकार ही नहीं होता, वह मनुष्य भी होता है। इस मनुष्य की सन्तुष्टि के लिए मानस की क्रिया एक भिन्न रूप में आगे बढ़ती है। यहाँ, यह नहीं समझना चाहिए कि सहज-ज्ञान की क्रिया का स्थान कोई अन्य क्रिया यथा सुख (प्लैज़र), उपयोग (यूटिलिटी) ले लेती है, वल्कि स्वयम् सहजज्ञान की या कहना चाहिए स्वयम् आत्मा की क्रिया, सामने दिखाई पड़ने वाले अन्य लक्ष्य की पूर्त्ति हेतु एक नवीन रूप ग्रहण कर लेती है। आत्मा की क्रिया का यह नवीन रूप जिसे क्रोचे धारणा (पर्सेप्शन) की संज्ञा देता है, मूल सहजज्ञान की क्रिया से ही उद्भूत होता है।

उन लोगों को क्रोचे भ्रम में मानता है, जो बिम्ब (इमेज) और धारणा (पर्सेप्शन) को एक ही क्रिया समझते हैं। उनकी मान्यता है कि धारणा पूरा पूरा निर्णयात्मक ज्ञान है, जज़मेंट है। 'धारणा' से आगे की स्थिति इतिहास और दर्शन है। जो वास्तव में घटित हो चुका है उसके प्रति धारणात्मक चेतना इतिहास है और विश्व-घटनाओं के मूल में कार्य करने वाले नियमों की चेतना दर्शन है। इतिहास तथा दर्शन दोनों का जन्म धारणा से ही है। इन दोनों के अतिरिक्त, प्रकृत विज्ञानों (नेचरल साइन्सेज़) और गणितों का प्रादुर्भाव भी धारणा से ही होता है, जब उस पर

मानव की बुद्धि कार्य करती है। इतिहास तथा दर्शन के क्षेत्र तक तो हमारा ज्ञान सैद्धान्तिक रहता है किन्तु प्रकृत-विज्ञान और गणित के क्षेत्र में पहुँच कर वह व्यावहारिक रूप लेने को मचल पड़ता है।

इसके बाद अर्थशास्त्र तथा आचार-शास्त्र की चेतना का रूप उदित होता है और बुद्धिजीवी व्यक्ति को व्यवहार-कुशल व्यक्ति बनना पड़ता है। जीवन की नित नवीन स्थितियाँ नये सहजज्ञान की, नई कला की, नये संगीत की प्रेरणा देने लगती हैं। इस प्रकार अन्तिम चेतना-स्थिति प्रारम्भिक चेतना-स्थिति से संयुक्त हो जाती है और चक्र पूर्ण हो जाता है।

अब यदि पूछा जाय कि चेतनात्मा की इन विभिन्न स्थितियों-बिम्ब, धारणा, इतिहास, दर्शन, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र-में से कौनसी स्वतन्त्र या आत्म-निर्भर हैं और कौनसी पराश्रित हैं, तो यह व्यर्थ है। यदि सापेक्षिक रूप से स्वतन्त्रता की बात हो, तो सभी स्वतन्त्र है और यदि निरपेक्ष आत्मनिर्भरता की बात हो तो केवल आत्मा ही सत्य है।

अत: यदि किसी को कला में अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष दिखाई पड़ते हैं तो यह ठीक ही है क्योंकि बीज में अंकुर, पादप, फूल और फल भी निहित हैं, किन्तु यदि वह कला को अन्य चेतना-स्तरों के साथ एकाकार समझ बैठता है तो निश्चय ही भूल करता है; कारण यह कि उसने समय के प्रवाह को भुला देने की चेष्टा की है। अन्य चेतना-स्थितियाँ 'कला' की पूर्व या उत्तर स्थितियाँ हो सकती हैं, स्व-स्थिति नहीं हो सकती। इस प्रकार कला का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है और उस पर इतर उद्देश्य थोपना नितान्त अनुचित है।

कला, कला ही के लिये है। किन्तु इस उक्ति का आशय केवल इतना ही है कि कलाकार अपनी कला में पूर्ण दत्तचित्त होकर लगा रहे। कोई बाह्य अंकुश उस पर न हो, अपनी आत्मा की साक्षी में ही वह कला-निर्माण करे, अपने भीतर के प्रकाश से ही वह प्रेरित हो।

कला के सम्बन्ध में तीसरा ऋण-कथन है कि वह सदाचार-मूलक कार्य नहीं है। आचार-क्षेत्र के भीतर मनुष्य की केवल वे ही क्रियाएँ समाविष्ट हैं, जो इच्छित हों। जिन क्रियाओं के पीछे इच्छा का वेग नहीं है, जो सहज, स्वत: स्फूर्त और निसर्ग हैं, उनके सम्बन्ध में आचार-परक निर्णय की व्यवस्था नहीं दी जा सकती। कला या सहजज्ञान ऐसी ही एक क्रिया है। अत: वह आचार या नैतिक जगत् से बाहर की वस्तु है। वह न अच्छी है न बुरी, वह मात्र कला है। सहजज्ञान की सामग्री, नैतिक दृष्टि से भली या बुरी हो सकती है, किन्तु सहजज्ञान स्वयम् में, न तो प्रशंसनीय है और न ही निन्दनीय।

आज कला के सम्मुख नैतिकता का प्रश्न जोरों से उठाया जा रहा है। कला पर नीति का बाह्य आदर्श थोपा जा रहा है। कला और साहित्य ऐसा होना चाहिए जो समाज को सत् की ओर प्रेरित करे तथा असत् से विमुख करे, जो समाज के दोषों को दूर करने में तथा व्यक्ति के चरित्र-निर्माण में सहायक हो सके। किन्तु यह प्रश्न 'चाहिये' का है जो कला के साथ चल नहीं सकता। 'चाहिए' की पृष्ठभूमि में इच्छा का प्रयत्न स्पष्ट दिखाई पड़ता है और यदि कलाकार किसी इच्छा को लेकर अपने कार्य में प्रवृत्त होगा तो उसका परिणाम 'कला' न होकर, कुछ और होगा।

अत समाज के नैतिक मान कला-क्षेत्र से बहिष्कृत हैं। कला और आचार-शास्त्र की भारवाहिका बनाने का दुराग्रह क्यों कर सहन किया जा सकता है ? कहा जाता है कि यदि कला और साहित्य, समाज की सामयिक नैतिक समस्याओं के समाधान में सक्रिय रुचि नहीं दिखायेंगे तो उनका महत्त्व गिरता चला जायगा। इस दुराग्रहपूर्ण चुनौती का उत्तर क्रोचे ने बहुत ही स्पष्ट और समर्थ शब्दावली में दिया है।[1]

कला और नैतिकता सम्बन्धी प्रश्न पर विचार करते हुए क्रोचे ने उपर्युक्त विचारों के ठीक विपरीत कथन कर दिया है और ऐसा प्रतीत होता है कि समाज के बारम्बार के आग्रहों और भर्त्सनाओं के कारण उसने घुटने टेक दिये हैं। क्रोचे के कथन का अविकल हिन्दी रूपान्तर यहाँ दिया जा रहा है :

"नीति-रहित कला, कला जो स्वयम् के लिए 'निर्विकार सुन्दरता' की संज्ञा अपनाती है, और जिसके सम्मुख गन्ध-धूप जलता है, जैसे वह पिशाचों के किसी गिरोह द्वारा आराधित कोई आसुरी देवी हो, विघटित होने लगती है और जिस जीवन से वह आवेष्टित हैं, जिससे वह उद्भूत होती है, उसमें नैतिकता के अभाव के कारण वह छद्म, विलास और मनः चांचल्य मात्र रह जाती है।"

क्रोचे के कला-दर्शन में मिलने वाले अनेक अन्तर्विरोधों में से यह एक है। ये अन्तर्विरोध ही क्रोचे की विचार-धारा को समझने में सबसे बड़ी बाधा हैं। ये पंक्तियाँ यदि कला (सहजज्ञान) के सम्बन्ध में न हो कर, बाह्य कला-कृतियों के सम्बन्ध में होतीं, तो असंगति उत्पन्न न होती। बाह्य कला-कृतियों के निर्माण में प्रवृत्त होते ही कलाकार की कला का क्षेत्र पीछे छूट जाता है और वह उस जीवन में प्रवेश करता है, जहाँ अर्थशास्त्र है, राजनीति है, भला-बुरा है, विज्ञापन है और सभी कुछ है। यहाँ

---

1. "The end attributed to art, of directing the good and inspiring horror of evil, of correcting and ameliorating customs is a derivation of the moralistic doctrine. These are all things that art cannot do, any more than geometry, which however does not lose anything of its importance on account of its inability to do this, and one does not see why art should do so either "

आकर क्रोचे ने आलोचकों को पूर्ण स्वतन्त्रता स्वीकृत की है जो उसके कला-दर्शन के प्रकाश में उचित ही है।

चौथा और अन्तिम निषेध जो क्रोचे ने सहजज्ञान के सम्बन्ध में किया है वह यह कि कला धारणात्मक ज्ञान नहीं है। धारणात्मक ज्ञान जैसा कि पीछे देखा जा चुका है, सदा तथ्यपरक होता है। उसका उद्देश्य सत्य और असत्य में भेद स्थापित करना होता है। दूसरी ओर, कला में ऐसा कोई प्रयत्न नहीं होता; वह तो शुद्ध विम्ब-ज्ञान या रूप-ज्ञान मात्र होता है।

अतः किसी कला-कृति (मानसिक, वाह्य नहीं) की समीक्षा करते हुए कोई आलोचक यदि यह प्रश्न उठाता है, कि कलाकार ने जो बिम्ब उपस्थित किया है, वह ऐतिहासिक या दार्शनिक दृष्टि से सत्य है या असत्य, तो यह व्यर्थ का प्रश्न है। यह तो वैसा ही है जैसा किसी कथा या उपन्यास के अधम-नीच पात्रों को न्यायालय के जज के सम्मुख उपस्थित करना।

कला की स्थिति भावनात्मक ही है। उस स्थिति में ज्योंही चिन्तन-मनन का अथवा धारणा का मिश्रण होने लगता है, कला विकृत होने लगती है और मर जाती है। कलाकार, जब आलोचक बनने की चेष्टा करता है, अथवा सहजज्ञान के इन्द्रियातीत आनन्द का उपयोग छोड़कर जीवन का द्रष्टा बनने लगता है, तभी कला नष्ट हो जाती है।

यही कारण है कि कला का प्रकृत विज्ञान तथा गणित-विज्ञान से भारी विरोध है। विरोध इतिहास तथा दर्शन से भी है, किन्तु कम ही, क्योंकि कला की भाँति, ये दोनों भी सैद्धान्तिक ज्ञान की शाखाएँ हैं और उनमें किसी सीमा तक समानता है ही। काव्य तथा वर्गीकरण और इससे भी बढ़कर, काव्य तथा गणित में उतनी ही सहमति है जितनी आग और पानी में है। तथापि ऐसे कवियों का अभाव नहीं जो काव्य और गणित में वैवाहिक सम्बन्ध-सूत्र स्थापित करने लगते हैं :

I have measured it from side to side
It's three feet long and two feet wide.

अथवा

Ten thousand saw I at a glance.

इस प्रकार, 'कला' को सहजज्ञान के रूप में परिभाषित करना क्रोचे की दृष्टि में, उसे सम्यक् रूप में व्यंजित कर देना है। पर देखने की वात यह है कि क्रोचे ने सहजज्ञान को ही कला माना है, सहजज्ञान को ही अभिव्यक्ति माना है, सहजज्ञान को ही सौन्दर्य माना है और सहजज्ञान को ही संगीत माना है। सहजज्ञान क्या हुआ, वेदान्त का 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' हो गया। ऐसी स्थिति में 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव' वाली उक्ति का स्मरण हो आना भी स्वाभाविक है।

---

4 कलात्मक अनुभूति का कुँआरापन : दृष्टि बर्गसाँ की

कला-सम्बन्धी चर्चा के प्रसंग में सबसे बड़ी कठिनाई उस शब्दावली की अर्थगत तरलता में है जिसका प्रयोग करने के अतिरिक्त हमारे पास कोई चारा नहीं। वह इतनी अनिश्चयात्मक होती है कि उसका प्रयोग करते समय हमारे अचेतन में यह शंका लगातार बनी रहती है कि इसके द्वारा हमारे अभिप्रेत का संप्रेषण हो भी रहा है अथवा नहीं। शायद ही हम निश्चय पूर्वक कह सकें कि हमने वही कहा है जो हम कहना चाहते हैं। लगभग प्रत्येक दशक में कुछ नये संकेत-शब्द (कैच्वर्ड्स) गढ़े जाते हैं, जो कला के क्षेत्र में, कुछ वर्षों तक अवश्य, कला-मर्मज्ञों के एक सीमित वर्ग को किसी निश्चित अर्थ का बोध कराते हैं। पर शीघ्र ही, वे तरलावस्था को प्राप्त होते हैं और खोटे सिक्कों की भाँति अनुपयोगी हो जाते हैं। हिन्दी की नई कविता के आलोचन-हेतु अभी हाल ही गढ़ी गई नई शब्दावली, यथा युगबोध, सन्दर्भ, जिये हुए क्षण, आदि भी तरलता से ग्रस्त होने लगी है। यह सत्य है कि अपने प्रथम निर्माण के समय भाषा का प्रत्येक शब्द एक जीवन्त प्रतीक होता है। वह अपने भीतर कवि-हृदय का कोई शक्तिशाली स्फुरण अथवा सूक्ष्म संवेदन सँजोये होता है पर धीरे-धीरे उसके भीतर का समस्त दृश्य-बिम्ब लुप्त हो जाता है और वह एक रिक्त, छूछा, अर्थहीन कंकाल मात्र रह जाता है। विशिष्ट अर्थ देने की उसकी क्षमता नष्ट हो जाती है, आत्मा उसे छोड़ जाती है। अज्ञेय के शब्दों में, उसके देवता कूच कर जाते हैं। पद्य के लिए अनुपयोगी होकर वह शब्द गद्य के भंडार में चला जाता है। गद्य, वस्तुतः वह संग्रहालय है जहाँ कवियों की बिम्बात्मक अनुभूतियों के जीवन्त प्रतीक जड़त्व को प्राप्त कर सदा के लिये संगृहीत हो जाते हैं।

यहाँ यदि यह प्रश्न उठाया जाय कि नूतन आविष्कृत शब्दावली की धारा के क्रमशः कुण्ठित हो जाने का अन्ततः कारण क्या है, तो संभव है हम अप्रत्यक्ष रूप से बर्गसाँ की कला-सम्बन्धी मान्यताओं के निकट पहुँच जायें। सौन्दर्यशास्त्रियों तथा

आचार्यों ने इस प्रश्न की समय समय पर उत्कट अनुभूति ही नहीं की, उसका समाधान भी किया है। कवि अज्ञेय ने प्रतीकों के जर्जर होने का कारण उनके अति-उपयोग को माना है :

> देवता इन प्रतीकों के कर गये हैं कूच
> कभी बासन अधिक घिसने से
> मुलम्मा छूट जाता है।

वर्गसाँ ने इसी तथ्य को स्वीकारा है पर एक भिन्न व्याख्या के साथ। उसकी विचारणा है कि अति-उपयोग अथवा अति-परिचय के परिणाम-स्वरूप, वे शब्द जो किसी विशिष्ट अनुभूति के वैयक्तिक रंगों को प्रकट करने के लिए आविष्कृत होते हैं, धीरे धीरे वर्ग-अनुभूति या सामान्य अनुभूति के वाहक बन जाते हैं, उनका वैयक्तिक रंग धुल जाता है। किसी समय में पश्चिमी क्षितिज-तट पर सूर्य के डूबने की अनुभूति भी विशुद्ध वैयक्तिक अनुभूति रही होगी पर आज यह अनुभूति इतनी सामान्य हो गई है कि उसमें न तो संध्या की श्री बच रही है और न कवि की व्यक्तिगत संवेदना। अब संध्या की, मेघमय आसमान से धीरे धीरे उतरने वाली परी के रूप में अनुभूति होती है या इसी कोटि के किसी अन्य संवेदन के रूप में, जो आज के सामान्य जन के लिये नितान्त अ-देखा, अ-सुना है। आशय यह कि कला सदा विशेष अनुभूति को ही सहेजने में प्रवृत्त होती है, उसके साधारणीकृत रूप को ग्रहण करने-कराने में नहीं। कवि, स्थिति-विशेष की उस चित्तवृत्ति को काव्य में बांधता है जो उसकी, केवल उसी की थी। चित्रकार अपने फलक पर वही चित्र उकेरता है जिसका बिम्ब अपने समस्त रंगों के वैविध्य में, किसी दिन-विशेष, स्थान-विशेष और क्षण-विशेष में उसकी कल्पना में सहजभाव से समा गया था और जिसकी आवृत्ति स्वयं उसी के जीवन में कदाचित् ही हो। आवृत्ति की सम्भावना के लिए स्थान शायद इसलिये नहीं रह जाता कि कलाकार स्वयं जड़ या स्थिर वस्तु नहीं है, उसका व्यक्तित्व क्षण क्षण परिवर्द्धमान है। अतः कलाकार की अनुभूति एक कुंआरी अनुभूति होती है, वह विशिष्ट होती है, उसका कोई वर्ग नहीं होता।

वर्गसाँ के मत में कला का ध्येय वस्तुओं और प्राणियों के भीतर निहित अन्तः सत्य का उद्घाटन करना है। सत्य वह नहीं है, जो इन्द्रिय अथवा बुद्धिगम्य है। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ वस्तु का केवल सतही ज्ञान प्राप्त कर सकती हैं। इन ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त संवेदनों के ढेर पर कार्य करने वाली बुद्धि की भी ऐसी ही परिसीमा है। इस जगत की सतत प्रवहमान सत्ता का स्थिर-जड़ रूप में प्रतिभासित होना, हमारे सामान्य प्रतिबोधन (पर्सेप्शन) तथा बुद्धि की परिसीमाओं का ही परिणाम है।[1]

1. विस्तार के लिए देखिये—'वर्गसाँ का प्रवाहवाद' नामक निबन्ध।

हमारी आँख का यह स्वभाव है कि वह पदार्थ या प्राणी को अंगों के संकलन के रूप में देखती है, उसके संश्लिष्ट जीवंत रूप में नहीं। वह वृक्ष को तने, डाली, पत्ते, फूल और फल में विभक्त करके देखने की अभ्यस्त है क्योंकि वह एक बार में एक ही संवेदन ला सकती है। इस प्रकार वृक्ष का वह संश्लिष्ट रूप जो उसके विविध अंगों को एकता के सूत्र में सम्हाले हुए है, वृक्ष का जो वृक्षत्व है, वृक्ष की जो आत्मा है, भेदों की तह में अभेदता का जो धागा है, उसे हमारी आँख ग्रहण नहीं कर पाती।

बुद्धि की स्थिति भी इससे भिन्न नहीं है। बर्गसाँ की यह मान्यता है कि मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकता ज्ञान नहीं, कर्म है। बुद्धि का कार्य वस्तुओं को इस रूप में उपस्थित करना है कि हम उन पर सफलता पूर्वक कार्य कर सकें, इस रूप में नहीं कि हम उन्हें सफलता पूर्वक जान सकें। बुद्धि की यह कर्मप्रेरणा मनुष्य पर हावी रहती है। परिणामत: हम वस्तु को देखने के लिये नहीं देखते, देखने के उपयोग के लिए देखते हैं। ज्ञान का केवल उतना ही अंश प्राप्त करके सन्तुष्ट हो जाते हैं जिसकी भौतिक जीवन के लिए उपयोगिता हो। शेष ज्ञान को, या कहना चाहिए, ज्ञान के लिए ज्ञान को हम त्याज्य और मूर्खतापूर्ण कार्य समझते हैं। आज के इस बुद्धि-प्रधान युग में विज्ञान तथा तकनीकी शिक्षा का महत्त्व बढ़ रहा है और कला तथा साहित्य की उपेक्षा हो रही है। बर्गसाँ की दृष्टि में हम सत्य से दूर होते जा रहे हैं।

बर्गसाँ का विश्वास है कि वस्तु पर जब हम उपयोग की दृष्टि डालते हैं तो हम वस्तु-विशेष को न देख कर उस वर्ग-विशेष को देखते हैं जिसके अन्तर्गत उस वस्तु को स्थान दिया जा सके। वस्तुओं का परस्पर का अन्तर जो व्यावहारिक जीवन के लिए उपादेय नहीं है, हमारी उपेक्षा का पात्र बन जाता है। अपने उपयोग की दृष्टि से हम वस्तुओं को वर्गीकृत करके रखते हैं और जब भी कोई नई वस्तु देखने में आती है, उसे ध्यान-पूर्वक देखने के स्थान पर हम तत्काल यह विचार कर उठते हैं कि इसे किस श्रेणी में रखना चाहिए, इस पर कौनसा लेबल चिपकाना चाहिए या इसे कौनसी दराज़ में रखना चाहिए। साइकिल को देखते हुए हम साइकिल–विशेष को नहीं देखते, मात्र साइकिल देखते हैं, वृक्ष-विशेष को नहीं देखते, मात्र वृक्ष को देखते हैं।

भेड़िये की आँख, बकरी के बच्चे और भेड़ के बच्चे में शायद ही कोई अन्तर देखती हो। उसके लिये दोनों एक से हैं, जिन पर झपटना तथा जिन्हें खाकर अपनी क्षुधा शान्त कर लेना उसके लिए सहज है। मनुष्य की आँख अवश्य, भेड़ तथा बकरी में अन्तर करती है। पर क्या हम एक बकरी को दूसरी से, अथवा एक भेड़ को दूसरी से पृथक् करके पहचान पाते हैं ? शायद उस समय तनहीं,क जब तक कि

बकरी या भेड़-विशेष के साथ हमारा उपादेयता का सम्बन्ध समाप्त न हो जाय। वस्तु या प्राणी की वैयक्तिकता, इस प्रकार हमारे ऐन्द्रिय प्रतिबोधन तथा बौद्धिक संग्रहण की पहुँच से बाहर ही रह जाती है।

व्यक्ति को न देख कर वर्ग या श्रेणी को देखने की यह प्रवृत्ति, भाषा के क्षेत्र में पहुँच कर और भी उग्र हो जाती है, क्योंकि व्यक्तिवाचक संज्ञाओं को छोड़ दें तो, भाषा के समस्त शब्द किसी न किसी वर्ग का ही बोध कराते हैं। अपनी अनुभूति को अभिव्यक्ति देते समय हमें पता चलता है कि न केवल इन्द्रियाँ तथा बुद्धि ही निश्चित जड रूढ़ियों से ग्रस्त हैं बल्कि भाषा की भी अपनी आदतें हैं। भाषा की इस रूढ़ जड़ता की बात केवल बाह्य पदार्थों के सम्बन्ध में ही सत्य नही है, मन की आन्तरिक दशाओं के सम्बन्ध में भी सत्य है। हम जब प्रेम अथवा घृणा की अनुभूति करते हैं या कि हम हर्ष अथवा अमर्ष की स्थिति में होते हैं तो क्या वह अनुभूति ज्यों की त्यों अपने मूल रूप में हमारी चेतना में पहुँच पाती है ? वस्तुत: इन में से प्रत्येक अनुभूति असंख्य गतिशील संवेदनांशों तथा स्वर की गम्भीर अनुगूँजों से इतनी लदी-फदी रहती है कि वह हमारी और केवल हमारी ही अनुभूति कहला सकती है। यों व्यवहार में जब कहा जाता है कि वह अमुक लड़की से प्रेम करता है, तो यहाँ प्रयुक्त शब्द 'प्रेम' उस अनुभूति के समस्त वैयक्तिक रंगों को छोड़कर केवल अत्यन्त सामान्य अर्थ को ही द्योतित कर पाता है। बता यही सकता है कि जिस अनुभूति की चर्चा हो रही है वह अमुक कोटि की है-प्रेम की या घृणा की या क्रोध की। मानव-हृदय के जितने भी भाव हैं, वे वर्ग या श्रेणी हैं। भाषा, अभिव्यक्ति के केवल निर्वैयक्तिक (इम्पर्सनल्) पक्ष को ही पकड़ सकती है। उसका आत्मगत या विषयिगत रूप सहज ही इसकी पकड़ में नहीं आता। इस प्रकार, हम न तो बाह्य पदार्थों के, और न मन की आन्तरिक दशाओं के वास्तविक सत्य को जान सकते हैं। दोनों से केवल बहिर्गत सम्बन्ध स्थापित किये, दोनों के बीच हमारी स्थिति बनी रहती है, तादात्म्य एक से भी नहीं होता और बिना तादात्म्य के जीवन-प्रवाह के सत्य का साक्षात्कार नहीं होता।

कला की आवश्यकता इसलिए है कि मनुष्य के कर्म-प्रेरित प्रतिबोधन-वह चाहे बाह्य हों चाहे आन्तरिक तथा कर्म-प्रेरित बुद्धि पर लगी उपयोगितावाद की सीमाओं का अतिक्रमण किया जा सके। यदि हमारी इन्द्रियाँ वस्तुओं को उनके वास्तविक रूप में देख सकें तो कला निरर्थक हो जाए। पर जैसा कि लिखा जा चुका है, इन्द्रियाँ तथा बुद्धि अपनी सीमाओं से आबद्ध हैं। कलाकार का कार्य इस उपयोगितावाद के आवरण को जहाँ तहाँ से चीरकर, कुछ काल के लिए ही सही, वस्तुओं के अन्तर्निहित जीवन-प्रवाह के दर्शन कराना है।

समय समय पर एक सुखद संयोग के रूप में, ऐसे व्यक्ति जन्म लेते रहते हैं जिनकी किसी भी एक इन्द्रिय का प्रतिबोधन, उपयोगितावाद या कर्मवाद के बन्धन से मुक्त

होता है। प्रकृति उसके प्रतिबोधन को कर्म के साथ सम्बद्ध करना शायद भूल जाती है। परिणाम यह होता है कि उस इन्द्रिय-विशेष द्वारा प्राप्त प्रतिबोधन मुक्त होता है, स्वतन्त्र होता है। शेष इन्द्रियाँ भले ही कर्म-प्रेरित हों, पर उस इन्द्रिय-विशेष के द्वारा व्यक्ति, वस्तु को वस्तु ही के रूप में देख पाने में समर्थ होता है, ज्ञान ही के लिये ज्ञान प्राप्त करता है और अन्ततः वस्तुओं के आन्तरिक जीवन-प्रवाह में डुबकी लेने में समर्थ होता है। वस्तु के रूप, रंग, ध्वनि के माध्यम से वह वस्तु के अन्तर्गत, सतत प्रवहमान जीवन-धारा की सूक्ष्मतम लहरों को उनकी आदिम विशुद्धता में देख पाता है।

पर प्रकृति की यह भूल, व्यक्ति की एक ही इन्द्रिय के सम्बन्ध में होती है, सभी इन्द्रियों में एक साथ नहीं। ऐसा व्यक्ति आज तक संसार में उत्पन्न नहीं हुआ जिसकी समस्त ज्ञानेन्द्रियाँ कर्म की प्रेरणा से सर्वथा मुक्त रही हों। बर्गसाँ का कहना है कि ऐसा होना असंभव है क्योंकि यदि ऐसा होता तो ललित कलाओं का जो पाँच भागों में वर्गीकरण हम देखते हैं, वह न देखते।

ऐसा मुक्त प्राणी जिसका किसी इन्द्रिय का प्रतिबोधन कर्म-शृंखला से मुक्त होता है, कलाकार कहलाता है। वह एक प्रकार की सहानुभूति की सहायता से अपनी चेतना के केन्द्र-बिन्दु को प्रतिबोध्य वस्तु के भीतर स्थापित करने में समर्थ हो जाता है और इस प्रकार तादात्म्य रूप से उसके अन्तः सत्य का सहज और मार्मिक दर्शन करता है। तब उसने जो देखा या अनुभूत किया है उसका कुछ अंश हमें दिखाने तथा वैसा ही प्रयत्न स्वयं हमें करने की प्रेरणा देने के लिए, वह ऐसे शब्दों के नियोजन में प्रवृत्त होता है जो अपनी संगीतमयता में प्राणवन्त हो उठते हैं। सत्य के साक्षात्कार से उत्पन्न आनन्द की अनुभूति को अपने सहवर्त्तियों तथा निकटवर्त्तियों में वितरित करते हुए उसकी वही मनोदशा होती है जो मन्दिर में देव-प्रतिमा के दर्शन के बाद प्रसाद बाँटते हुए किसी सम्पन्न भक्त की होती है। हिन्दी-काव्य के इतिहास में इस कोटि की अनुभूति प्राप्त करने वाले अनेक कवि हुए हैं जिनमें विशेष रूप से कबीरादि निर्गुण संत, जायसी प्रभृति सूफी संत तथा अन्य अनेक रहस्यवादी-छायावादी कवियों के नाम लिये जा सकते हैं। पर हिन्दी के गद्य-निर्माताओं में अकेले सरदार पूर्णसिंह ही ऐसे हैं जिनके निबन्धों में इस कोटि की सौन्दर्यानुभूति के प्रमाण देखने को मिलते हैं।

कुछ कलाकार और भी गहरे पैठते हैं। गहरे पैठने की यह शक्ति उनकी तटस्थता की प्रगाढ़ता के अनुपात में होती है। भाषा में रूपान्तरित हो सकने वाले (यद्यपि उनका रूपान्तर भी चुटकी-भर से अधिक नहीं होता) इन सुख-दुखों की तह में वे कुछ ऐसी वस्तु पकड़ लेते हैं जिसका भाषा के साथ किसी प्रकार का कोई साझा नहीं। यह वस्तु हमारी अन्तर्तम अनुभूतियों से भी निकटतर रहने वाली वस्तु है और

वह है स्वयं जीवन का संगीत। बर्गसाँ जिसे जीवन का संगीत कहता है, कबीर की वाणी में शायद उसी का नाम 'अनहद नाद' है। इस प्रकार वे कलाकार अपनी अनुभूति के माध्यम से हमारे अन्तर्तम में स्थित किसी गुप्त रहस्यमय तार को झंकृत कर हमें भी उस मार्ग पर अग्रसर होने को प्रेरित करते हैं। पर बहुधा यह अनुभूति भाषा की जड़ परिधि में नहीं बँधती क्योंकि वह गूँगे का गुड़ होती है। चैतन्य महाप्रभु की सी इस अनुभूति की दशा में वाणी जड़ हो जाती है और नेत्रों के माध्यम से ही उसका संप्रेषण होता है। इन्द्रियों के द्वारा अपना व्यापार बदल लेने की बात इसी मनोदशा में पहुँचकर समझ में आती है।

कला तथा कलाकार की सफलता इस बात में है कि वह आन्तरिक सत्य को—जो सतही रूपों से निश्चय ही भिन्न है, झलक न केवल स्वयम् देखे, अपितु सामान्य जन को भी दिखाये। नाटक, उपन्यास, कहानी, कविता आदि सभी साहित्य-रूपों की महत्ता इसी दृष्टि से है। यदि मनुष्य अपनी पाशविक वृत्तियों को खुली छूट दे दे, यदि समाज में सामाजिक और नैतिक नियमों को ढीला कर दिया जाय तो मनुष्य की हिंसक वृत्तियों का स्फोट रोज़मर्रा की चीज़ हो जाय। इन दोनों प्रकार के नियमों ने उसके आचरण पर बलपूर्वक एक स्थायी परत बना दी है जो कृत्रिम होते हुए भी उस की आदिम वृत्तियों को आवृत्त करने लगी है। उत्तरोत्तर शांतिपूर्ण सामाजिक जीवन व्यतीत करने की मनुष्य की इच्छा ने धीरे-धीरे इस परत को कठोर बना दिया है, जिस प्रकार स्वयम् हमारी पृथ्वी ने एक सुदीर्घ प्रयत्न के परिणाम-स्वरूप अपने उबलते लावे की उष्ण-तरल राशि को आवृत्त करने के लिए एक ठंडी और कठोर पर्पटी धारण करली है। पर जब ज्वालामुखियां का स्फोट होता है तो लगता है जैसे पृथ्वी ने सहसा अपनी अन्तर्तम मूल प्रकृति को फिर से अंगीकार कर लिया है! साहित्य तथा कलाएँ भी इसी प्रकार मनुष्य को सत्य की मूल प्रकृति का परिचय कराती हैं।

प्रश्न उठाया जा सकता है कि यदि आन्तरिक सत्य का साक्षात्कार केवल तादात्म्य से ही सम्भव है तो फिर एक ही लेखक या कवि के लिए अनेक पात्रों का मार्मिक अंकन क्यों कर सम्भव है? जो कुछ वह चित्रित करता है, क्या सब की अनुभूति उसे करनी पड़ती है? अपने पात्रों को जिन स्थितियों से वह ले जाता है, क्या स्वयम् उन सब से गुज़र चुका होता है? क्या उन सब के आन्तरिक जीवन को वह जीता है? समसामयिक व्यक्तियों की बात तो ख़ैर समझ में भी आ जाती है पर जो व्यक्ति बहुत बहुत पहले संसार से उठ चुके हैं, उनके साथ तादात्म्य की बात समझ में नहीं आती।

बर्गसाँ का उत्तर है कि हमारा व्यक्तित्व जो है और जो हो सकता था, इन दोनों का भेद हमें समझ लेना चाहिए। हमारा चरित्र हमारे आज तक के अच्छे-बुरे चुनावों का परिणाम है। जीवन के मार्ग में पग-पग पर अनेक दिशाओं में अनेक पग-

डंडियाँ फूटती हैं और जहाँ कहीं दोराहा या चौराहा मिलता है, हमें चयन करना पड़ता है। जो चयन हमने किये, उनसे भिन्न भी चयन हम कर सकते थे। वैसी स्थिति में हमारा चरित्र कितना कुछ भिन्न हो सकता था, इस बात का ज्ञान वर्गसाँ, कवि-कल्पना के लिये एक अनिवार्य तत्व मानता है और इसी तत्व की सहायता से वह उन चरित्रों का अङ्कन करने में समर्थ होता है जो उसके स्वयम् के चरित्र हो सकते थे बशर्ते कि उसने अमुक अमुक बिन्दुओं पर अमुक अमुक चयन किये होते। अतः यदि शेक्सपियर-सा कलाकार मैकबेथ, हैमलेट, आँथेलो, इयागो जैसे भिन्न प्रकृति वाले जीवन्त पात्रों की सृष्टि करे तो समझना यह चाहिए कि स्वयम् शेक्सपियर इन में से प्रत्येक व्यक्ति बन सकता था। दूसरे शब्दों में वे सब पात्र स्वयम् शेक्सपियर के ही रूप हैं।

वर्गसाँ ने चूँकि कला का ध्येय सत्य का उद्घाटन बताया है, अतः कुछ लोग यथा प्रवुद्ध फ्रेंच सौन्दर्यशास्त्री हुल्मे— यह सोच सकते हैं कि कला, मात्र एक खोज (डिस्कवरी) है, कोई नूतन सृष्टि नहीं है। कलाकार, वस्तु के आन्तरिक जीवन्त सत्य को केवल खोजता और पाता है। पर ऐसा सोचना, एक ओर तो अनुभूति और उद्घाटन के भेद को मिटा देना है, दूसरी ओर, कला के ध्येय और कला की परिभाषा को एक ही वस्तु समझ लेना है। सत्य की खोज के साथ कला के ध्येय की इति-श्री नहीं हो जाती; आगे बढ़कर दूसरों पर उसका प्रकटीकरण भी करना पड़ता है और यहीं भाषा या अन्य माध्यम की बात भी आ उपस्थित होती है, पर सुविधा की दृष्टि से, या कहिए ठीक-ठीक अर्थ-ग्रहण की दृष्टि से, यदि उसके अनुभूति और अभिव्यक्ति-दो पक्ष मान लिये जायें, तो कहना पड़ेगा कि सत्य की खोज में प्रथम पक्ष की भी व्याप्ति नहीं है, वह उसकी केवल पूर्वभूमि है।

वर्गसाँ की दृष्टि में कला आवश्यक रूप से एक सृष्टि है—एक नूतन विशिष्ट रचना। यह कैसे हो सकता है कि काल-प्रवाह के प्रत्येक क्षण को एक नवीन सृष्टि मानने वाला व्यक्ति कला को सृष्टि न माने ? वर्गसाँ के सृजनात्मक विकासवाद में यन्त्रवाद के लिए कोई स्थान नहीं है–यन्त्रवाद, जो दी गई बातों के आधार पर गणना कर, भावी घटनाओं का पूर्वकथन करता है। रेखागणित, ज्योतिष, रसायन-विज्ञान तथा भूतविज्ञान के क्षेत्र में भले ही परिणामों का पूर्वकथन किया जाता हो पर सृष्टि के क्षेत्र में आकर यंत्रवाद को असफलता का मुँह देखना पड़ता है क्योंकि यहाँ विश्लेपण कानहीं, संश्लेषण का सिद्धान्त काम करता है। कला भी एक प्रकार की सृष्टि है, कोई यांत्रिक प्रक्रिया नहीं। इसीलिए जब तक कोई कलाकृति पूर्ण नहीं हो जाती, उसके स्वरूप का पूर्वकथन, और तो और, स्वयं कलाकार के लिए भी सम्भव नहीं है।

वर्गसाँ का मत है कि कलाकृति को देखने पर हमारे भीतर जो संश्लिष्ट मनोवेग (इमोशन) उत्पन्न होता है, उसमें विशुद्ध सौन्दर्यपरक (एस्थेटिक) मनोवेग का अंश बहुत थोड़ा होता है। गणित का सहारा लेना यदि बुरा न माना जाय तो कहा

जा सकता है कि समग्र मनोवेग का वह केवल दशमांश होता है। काव्य-रसिकों में से यह उन्हीं की पकड़ में आ सकता है जो लय से, या कि छन्दसंगीत से भली प्रकार परिचित हैं। पर इस गुण से जो वंचित हैं, वे काव्य में प्रयुक्त प्रतीकों या अप्रस्तुतों के माध्यम से भी उस तक पहुँच सकते हैं। कवि ने सत्य का दर्शन जितना ही निकटता से किया होगा, उसके द्वारा प्रयुक्त अप्रस्तुतों और प्रतीकों में, उतनी ही अधिक बिम्बात्मकता आ सकेगी। काव्य में लगातार समर्थ शक्तिशाली बिम्बों की योजना इस बात की सूचक होती है कि कवि सतत भाव से वस्तु के आन्तरिक सत्य से सान्निध्य बनाये हुए है। जो प्रतीक-विधान तथा बिम्ब-विधान को काव्य का केवल बाह्य रूप या परिधान मानते हैं, काव्य की अन्तरात्मा से जो उसका कोई सम्बन्ध नहीं स्वीकार करते, बर्गसाँ उनसे सहमत नहीं है। बर्गसाँ की तो धारणा है कि प्रतीक-योजना का, कवि की अनुभूति से सीधा सम्बन्ध होता है। उसकी उत्कृष्टता स्वयम् कवि की अनुभूति की उत्कृष्टता की द्योतक होती है।

बर्गसाँ का कला सिद्धान्त वही है जो शॉपेनहावर का है। पर जहाँ शॉपेनहावर का कला-विवेचन दार्शनिक शब्दावली से बोझिल है, वहाँ बर्गसाँ ने कम से कम दार्शनिक बोझ के साथ, कला-प्रक्रिया का अत्यन्त सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन किया है। उसने हमें कला-क्षेत्र में व्यवहृत करने के लिए एक समर्थ शब्दावली दी है जिसके द्वारा हम अपनी बात अधिक निश्चयात्मकता के साथ कह सकते हैं। सौन्दर्यशास्त्र को उसकी दूसरी महत्त्वपूर्ण देन कला को पूर्णतः वैयक्तिक अनुभूति की अभिव्यक्ति कहने में है, यह कहने में कि कला वर्ग की अनुभूति नहीं, व्यक्ति और केवल व्यक्ति की अनुभूति है। पर उसने कलाकार को जन्मजात बताकर, प्रयत्न-सिद्ध कलाकारों के लिए कला का द्वार सदा के लिए बन्द कर दिया है। उसके द्वारा निरूपित प्रकृति की भूल, कहीं बर्गसाँ के दर्शन की ही तो भूल नहीं है?

---

5 नयी कविता और साधारणीकरण

सभ्यता के विकास में एक अविच्छिन्न सूत्र को सहज ही खोजा जा सकता है, वह है सन्तुलन की खोज। व्यक्ति और संस्था, स्थूल और सूक्ष्म, तर्क और श्रद्धा, आदर्श और यथार्थ, जड़वाद और अध्यात्मवाद तथा ऐसे ही अनेक द्वन्द्वों में झूलती हुई यह मानवी सभ्यता अपने विकास-पथ पर बढ़ती रहती है। इसे मनुष्य की चारित्रिक दुर्बलता कहा जाय या दृष्टि की एकाग्रता या कि दृष्टि की नितान्त अन्धता, कि आकर्षण के जिस बिन्दु की ओर वह एक बार ढल पड़ता है; फिर लगातार उसी दिशा में प्रवाहित होता हुआ अतिवाद की स्थिति में जा पहुँचता है। अतिवाद की यह स्थिति, दूसरी ओर की ऐसी ही स्थिति से अपना स्वाभाविक विरोध मानती है और स्वयम् की अपेक्षाकृत श्रेष्ठता की भावना से कुछ काल तक पीड़ित रहती है, पर अन्ततः मनुष्य की समग्र दृष्टि सन्तुलन की खोज में प्रवृत्त होती है। कृष्ण की समग्र दृष्टि ने कभी अपने कर्मयोग में प्रवृत्ति और निवृत्ति के अतिवादों से बचते हुए 'निष्काम कर्म' के मध्यम मार्ग की प्रतिष्ठा की थी। दर्शन की बात भिन्न है पर मानव-प्रकृति के सन्दर्भ में निष्काम कर्म की व्यावहारिकता सदा संदिग्ध रही है। जल में कमलवत् निवास करने वाला राजा जनक, नियम का अपवाद ही हो सकता है। निष्काम-कर्म की तटस्थता को, उसकी रागहीनता को उसकी उदासीनता को निरपेक्ष जीवन-मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित करने का अर्थ, जीवन को उसके सहज आकर्षण तथा रस से रिक्त करना है। प्रवृत्ति और निवृत्ति की दो समानान्तर रेखाओं के मध्य, तलवार की धार की तरह खिंची, निष्काम कर्म की तीसरी सरल रेखा पर चलने का साहस कोई बिरला ही कर सकता है। सन्तुलन की स्थिति भी, वस्तुतः कोई निरपेक्ष स्थिति नहीं होती। बदलती हुई जीवन-परिस्थितियाँ क्रमशः उसे परम्परा और परम्परा से रूढ़ि के रूप में परिवर्तित कर देती हैं और समय आता है जब काल-विशेष की सन्तुलित जीवन-दृष्टि से चिपके रहने का आग्रह एक अतिवाद दिखाई पड़ने लगता है। ऐतिहासिक अनिवार्यता के हामी, हठीले साम्यवादी जब वर्ग-संघर्ष तथा रक्त-क्रान्ति की एक निश्चित, नियतिगत रूढ़ पद्धति पर ही समाजवाद की अवतारणा देखना चाहते हैं तो आँखों पर पट्टी-चढ़े कोल्हू के बैल का स्मरण हो

आना सहज प्रतीत होता है। सन्तुलन की खोज भी वस्तुतः एक अनवरत, अक्षुण्ण क्रिया है। प्रगतिशील काव्य के रूप में समष्टि के अतिवादी तट से टकराकर हिन्दी का नवलेखन अब व्यष्टि के विलोम तट की ओर वह रहा है। मानव का यह दुर्भाग्य रहा है कि समष्टि का कोई न कोई रूप उसकी इकाई पर, उसके व्यक्तित्व पर हावी रहा है; कभी वह धार्मिक आज्ञाओं से बाधित रहा है, कभी राजतन्त्र के आदेशों से शासित; कभी कानून ने उसका गला दबाया है, कभी सामाजिक मर्यादा पाँव की बेड़ी बन गई है। राष्ट्रवाद, पूँजीवाद और साम्यवाद के कल्पित देवता उसकी बलि लेते रहे हैं। ईसा की पाँचवीं शताब्दी से- कि जब प्रोटेगोरस ने मनुष्य को समस्त वस्तुओं का मापक (measure) घोषित किया था—लेकर आज तक न जाने कितनी बार उसका व्यक्तित्व, किसी न किसी संस्था अथवा समूह के अध्यादेशों का पालन करने को विवश किया गया है; वैसे ही, जैसे आदर्शवादियों द्वारा 'कला, कला के लिए' का बारम्बार उद्घोष करने के बाद भी कला का स्वतन्त्र अस्तित्व अनेक प्रकार के प्रयोजनों से बँधा रहा है। विवेकानन्द ने एक बार कहा था - धूल में मिलाया हुआ सत्य फिर उठेगा। मनुष्य का व्यक्तित्व भी इसी प्रकार अपने अहं की प्रेरणा से, अपनी अदम्य जिजीविषा से, अपनी मूल प्राण-शक्ति के संवेग से, सारे बन्धनों को तोड़कर चलेगा। बाह्य जीवन की भौतिक-सामाजिक शक्तियाँ अब उसकी नियति नहीं बन सकेंगी; बदलकर वह स्वयम् उन आर्थिक धार्मिक शक्तियों का स्वामित्व करेगा जिन्होंने पिछले युग में उसे बौना, निरीह, अकिंचन, मूक और पंगु बना दिया था। विज्ञानयुग की विराट् यांत्रिकता और परमाणु-युद्ध की रोमांचक विभीषिका के सम्मुख, वह अब टूटेगा-बिखरेगा नहीं, अपितु आस्थावान बन कर, शक्ति के विद्युत्कणों को बटोरता हुआ अग्नि का अजेय पुंज होकर जल उठेगा। समष्टिवाद के नानाविध प्रकारों द्वारा ध्वस्त मानव-मूल्यों का, वह नये सिरे से निर्माण करेगा और एक ऐसे नवीन मानवतावाद की सृष्टि करेगा जिसका शीर्ष-मूल्य होगा व्यक्ति का व्यक्तित्व। इसमें सन्देह नहीं कि इस नवमानवतावाद को प्रतिष्ठित करने के लिए व्यक्ति को संघर्ष की खराद पर चढ़ना होगा पर यह भी असंदिग्ध है कि इस प्रक्रिया में उसका व्यक्तित्व एक अपूर्व दीप्ति से भासमान हो उठेगा।

आज की हिन्दी की नई कविता का मूल स्वर यही है। इसी मूल रागिनी को लक्ष्य कर हिन्दी के कुछ मूर्धन्य आलोचकों[१] ने नई कविता पर आरोप लगाया है कि वह सामाजिकता के दायित्व का निर्वाह नहीं करती। यह आरोप उतना ही सार्थक या निरर्थक है जितना प्रगतिशील कविता पर लगाया गया यह आरोप कि वह व्यक्ति के व्यक्तित्व को महत्त्व नहीं प्रदान करती। वस्तुतः ये दोनों आरोप, एक अतिवाद की स्थिति से, दूसरे अतिवाद की स्थिति पर किये गये आरोप हैं; दूसरे शब्दों में,

१. श्री नन्ददुलारे वाजपेयी, डा. नगेन्द्र आदि।

आरोप के लिए आरोप हैं, उनका विशेष महत्व नहीं। यदि सन्तुलन को दृष्टिगत रखते हुए यह आरोप लगाया गया होता कि नई कविता अति-सामाजिकता से टकरा कर अति-वैयक्तिकता की ओर बढ़ी जा रही है; वह सामाजिकता और व्यक्तित्व के उपयोगी तत्वों का समाहार करने में असफल रही है तो कदाचित् आरोप में कुछ सार्थकता की प्रतीति होती। आज की कविता चाहे कितनी ही दृढ़ता से यह दावा करे कि उसने अपना मार्ग पहचान लिया है, पर सातवें दशक की नयी कविता भी हमें तो भटकन की ही स्थिति में दिखाई पड़ती है। अभी तो उस पर एक प्रतिक्रिया सवार है, जो उसे सन्तुलन की खोज की दिशा में नहीं, सामूहिकता या सामाजिकता की विपरीत दिशा में ठेलती जा रही है।

इस अतिवैयक्तिकता की ओर नई कविता की प्रतिक्रियात्मक रुझान ने एक और समस्या खड़ी करदी है। वह है साधारणीकरण की समस्या। यह तो निर्विवाद है कि खण्डित बिम्बों और अस्पष्ट जीवनानुभूतियों से संवलित नयी कविता पर रस-सिद्धान्त को ज्यों का त्यों घटित करना असंभव है; हाँ, साधारणीकरण की प्रक्रिया अवश्य इस पर आरोपित की जा सकती है। पर नयी कविता में आलम्बन का अथवा कवि के राग-विराग का साधारणीकृत रूप बहुत कम देखने में आता है और डा० नगेन्द्र का यह कथन बहुत अंशों में सत्य प्रतीत होता है कि नई कविता 'विशेष' का 'विशेष' ही रूप में प्रस्तुतीकरण करती है और इस प्रकार साधारणीकरण के मूल सिद्धान्त का ही निषेध करती है। करने को तो 'अज्ञेय' ने 'दूसरा सप्तक' की भूमिका में इस कथन का प्रत्याख्यान भी किया है पर प्रकारान्तर से उन्होंने यह अधिक कहा है कि नये कवि के लिए साधारणीकरण के मार्ग में कितनी कठिनाइयाँ हैं; यह कम *कहा है कि साधारणीकरण नयी कविता में अनिवार्य रूप से होता है।* वस्तुतः नयी कविता में साधारणीकरण को बाधित करने वाले तत्वों की परिगणना इस प्रकार की जा सकती है :

(१) घोर वैयक्तिक दृष्टिकोण
(२) अतिरिक्त बुद्धिवाद का आग्रह
(३) भाषा की अस्पष्टता
(४) टेकनीक पर आवश्यकता से अधिक बल

तटस्थ दृष्टि से विचार किया जाय तो कला की सफलता के लिए तीन बातों का होना आवश्यक है—जीवन के व्यापक सत्य का दर्शन,[1] उस सत्य का कवि के मनोराग से संवलित होना[2] तथा इस राग-संवलित सत्य का समर्थ भाषा-शिल्प द्वारा

१. अज्ञेय का 'वस्तु-सत्य'
२. अज्ञेय का 'व्यक्ति-सत्य'

संप्रेषण। यह कहना तो उचित नहीं प्रतीत होता कि नयी कविता का कवि जीवन के व्यापक सत्य को ग्रहण करने में असमर्थ है या कि वह उससे कतराता है या कि अपनी वैचित्र्य-प्रियता और नवीनता के मोह में जानबूझ कर सत्य के खण्डित अंशों को ही ग्रहण करता है। हम किसी की नीयत पर किसी प्रकार का सन्देह नहीं कर सकते। न ही दृष्टिकोण की घोर वैयक्तिकता का आरोप आज के कवि पर लगाया जा सकता है। नई कविता को व्यक्तिवाद के मूल्य की प्रतिष्ठा करते देख यदि हम कहें कि इसका दृष्टिकोण घोर वैयक्तिकतावादी है, तो तर्क की इससे बड़ी भ्रान्ति दूसरी न होगी। सम्भव है, युग के सत्य और युग-युग के सत्य का अत्यन्त व्यापक और मार्मिक दर्शन करने के बाद ही व्यक्तिवाद की मूल्य के रूप में प्रतिष्ठा करने का निर्णय लिया गया हो। पर जब व्यापक सत्य को कवि के मनोराग से संवलित करने की स्थिति आती है अथवा अज्ञेय के शब्दों में कहें तो वस्तु सत्य को व्यक्ति-सत्य में परिणत करने का प्रश्न उपस्थित होता है, वहाँ नई कविता का अतिरिक्त बुद्धिवाद अवश्य बाधा उपस्थित करता है। इसमें सन्देह नहीं कि बुद्धि भी हमारे व्यक्तित्व का एक आवश्यक अङ्ग है और कि उसके बिना हमारा व्यक्तित्व समग्र नहीं बनता, पर बौद्धिकता की क्रिया के लिए साहित्य की अन्य विधाएँ हैं। यह हिन्दी-कविता के लिए बड़े दुर्भाग्य की बात होगी, यदि नवीनता के मोह में, मनोरागों का स्थान बौद्धिकता ग्रहण कर लेगी। प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक का कहना यह नहीं है कि नयी कविता ने मनोरागो को पूर्ण तिलांजलि दे दी है। पत्र-पत्रिकाओं में कुछ कविताएँ ऐसी भी देखने में आती हैं जहाँ पंक्तियों में कवि के व्यक्तिगत संवेदन और मनोराग स्पष्टतः उभर कर आते दिखाई पड़ते हैं; जहाँ लगता है कि कवि अपनी अनुभूति में डूबा है और उसने सत्य को राग-रंजित करके अभिव्यक्त किया है—केवल सिद्धान्त की क़ै नहीं कर दी है। पर अधिकांश कविताओं का यह पक्ष बड़ा दुर्बल है।

नई कविता का संप्रेषण-पक्ष तो सर्वाधिक दुर्बल है, यद्यपि नया कवि सबसे अधिक बल इसी पर देता है; यहाँ तक कि कभी-कभी तो इसके लिए उसे कथ्य की भी उपेक्षा करनी पड़ती है। उसके इस प्रयत्न से काव्य-क्षेत्र में एक और नवीन भ्रान्ति फैलने लगी है कि कविता में शिल्प या टेकनीक ही प्रधान वस्तु है और उत्कृष्ट शिल्प ही कवि को महान बनाता है। पर साधन को साध्य समझ लेने की यह भूल हिन्दी-काव्य में आज पहली बार नहीं हो रही है। रीति-काल की कविता का उदाहरण हमारे सामने है ही। नई कविता की 'संध्या भाषा' को देखकर कबीर की अटपटी वाणी का सहज ही स्मरण हो आता है। कबीर की वाणी के अटपटेपन के दो कारण सहज ही समझ में आ जाते हैं—कबीर की आध्यात्मिक अनुभूति का निजी अटपटापन और कबीर की भाषा-विषयक अशिक्षा। पर नये कवियों की अटपटी वाणी का कोई स्पष्ट कारण सामने नहीं आता। यदि उनके द्वारा प्राप्त युग-बोध को अस्पष्ट माना जाय तो वे इसे अपनी क्षमता के प्रति संदेह समझकर रूठ जाते हैं और

भाषाविषयक अशिक्षा का प्रसंग चलाकर तो तू-तू, मैं-मैं की नौबत लाना कौन चाहेगा ? तब इसका कारण क्या हो सकता है ? गड़बड़, निश्चय ही या तो राग-तत्त्व में होनी चाहिए और या संप्रेषण में। हमारी समझ में, वह किसी एक में न होकर, दोनों में है।

'अज्ञेय' के इस कथन को मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि बाह्य वास्तविकता के बदलने पर, उससे रागात्मक सम्बन्ध जोड़ने की हमारी प्रणालियाँ भी बदल जाती हैं और कि इस परिवर्तन से साधारणीकरण की नयी समस्यायें आरम्भ होती हैं। विशेष ज्ञानों के इस युग में नया कवि स्वयम् को दुहरे अन्तर्विरोध के मध्य पाता है। पहला अन्तर्विरोध तो यह कि यदि कवि सीमित क्षेत्र के सीमित सत्य को अपने ही सीमित क्षेत्र में व्यक्त करता है तो साधारणीकरण का क्षेत्र संकुचित हो जाता है और यदि वह सीमित क्षेत्र के बाहर निकलकर, एक व्यापक क्षेत्र के बीच, अपनी सीमित अनुभूति को अभिव्यक्त करने की चेष्टा करता है तो उसे भाषा का 'साधारण मुहावरा' छोड़कर शब्दों का नया संस्कार करना पड़ता है और इस प्रकार एक दूसरे अन्तर्विरोध की शरण लेनी पड़ती है।[1] पर इस विवेचन से अज्ञेय क्या यह संकेत देना चाहते हैं कि रागात्मक प्रणालियों के विपर्यय का अर्थ रागात्मकता का पूर्णतया तिरोहित हो जाना है ? यदि नहीं, तो फिर नयी कविता में रागात्मकता के दारुण अभाव की व्याख्या किस आधार पर की जा सकती है ? हमारी अपनी मान्यता तो यही है कि नयी कविता में बौद्धिकता के अनाहूत आग्रह ने उसके रागात्मक तत्त्वों को हानि पहुँचाई है और यदि वस्तुस्थिति यही हो तो इसे स्वीकार कर चलने में नई कविता की कोई मान-हानि नहीं होती।

अब रह जाता है संप्रेषण का प्रश्न। नये कवि इसी को काव्य का मूल प्रश्न मानते हैं। अपने विशिष्ट व्यक्ति-सत्य को संप्रेष्य बनाने में साधारण भाषा को वे असमर्थ पाते हैं क्योंकि "भाषा के शब्दों का चामत्कारिक अर्थ अभिधेय बनता रहता है।" अज्ञेय ने साधारणीकरण के साथ भाषा के मूल प्रश्न का सम्बन्ध जोड़कर निश्चय ही एक महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित किया है। इसमें सन्देह नहीं, कि अपने निर्माण के समय भाषा का प्रत्येक शब्द अतिशय काव्यात्मक होता है और अपने भीतर कवि-हृदय का कोई शक्तिशाली स्फुरण अथवा सूक्ष्म संवेदन सँजोये होता है। पर धीरे धीरे उसके भीतर का समस्त दृश्य-बिम्ब लुप्त हो जाता है और काव्य के लिए, वह खोटे सिक्के की भाँति नितान्त अनुपयोगी होकर गद्य के भण्डार में चला जाता है। अतः कवि को निरन्तर नये शब्द गढ़ने पड़ते हैं; या फिर प्रचलित शब्दों को नया संस्कार देना पड़ता है। यह सब ठीक है, किन्तु यह समस्या केवल नयी

---

१. दूसरा सप्तक की भूमिका—पृ० १०

कविता के सर्जक की समस्या हो, सो बात नहीं। यह तो प्रत्येक युग के कवि की समस्या है। फिर नये कवि को ही बौखलाहट क्यों ? वस्तुतः भाषा, छन्द, प्रतीक-योजना एवम् बिम्ब-विधान के क्षेत्र में इतनी अराजकता कभी नहीं आई, जितनी इस नयी कविता के युग में देखी जा रही है। शब्दों का इतने विलक्षण और विचित्र अर्थों में प्रयोग, कि पाठक सोचने लगे, कि भाषा भाव को प्रकट करने का साधन है या उसे छिपाने का; छन्द के पूर्ण बहिष्कार के बाद 'लय' की चर्चा, और वह भी शब्द की नहीं, अर्थ की; अप्रस्तुत-योजना ऐसी कि बिम्ब-विधान होता भी हो, तो न हो सके और इन सब का समग्र प्रभाव–कि कवि के कथ्य को समझने के लिए पाठक को समाधि लगानी पड़े !

निश्चय ही हिन्दी की नयी कविता में साधारणीकरण नहीं हो रहा; यह अलग बात है कि वह साधारणीकरण की दिशा में बढ़ रही हो और सम्प्रति, सफलता नहीं पा रही हो। उसके भावी-विकास का पूर्व-कथन करना तो अदूरदर्शिता ही होगी।

पर यहाँ एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया जा सकता है और वह यह, कि नयी कविता साधारणीकरण के ही सिद्धान्त को मानकर क्यों चले; क्यों नहीं वह 'विशेषीकरण' को ही अपना ध्येय मान ले ? अन्ततः साधारणीकरण का सिद्धान्त कोई सार्वकालिक और सार्वदेशिक सिद्धान्त तो है नहीं कि जिसकी अवहेलना काव्य को, उसके गौरव से गिरा देगी ! यदि एक क़दम और आगे बढ़कर पूछ लिया जाय कि काव्य तथा कलाओं में 'साधारणीकरण' जैसी कोई चीज़ होती भी है अथवा नहीं, तो शायद हम में से बहुत से चौंक पड़े। कवि अथवा कलाकार अपनी जिस अनुभूति को काव्य में अथवा कला-कृति में सहेजता-सँवारता है वह उसकी, और केवल उसी की अनुभूति होती है। चित्रकार अपने फलक पर वही चित्र उकेरता है जिसका बिम्ब अपने समस्त रंगों के वैविध्य में, किसी दिन-विशेष, स्थान-विशेष और क्षण-विशेष में उसकी कल्पना में सहज भाव से समा गया था और जिसकी आवृत्ति शायद चित्रकार के भी जीवन में न हो। आशय यह, कि कवि अथवा कलाकार की अनुभूति एक कुंवारी अनुभूति होती है, एक विशिष्ट अनुभूति होती है, उसका कोई वर्ग नहीं होता और न उसका कोई साधारणीकृत रूप होता है। टर्नर की चित्र-प्रदर्शनी में गहरे लाल रंगों से भरा पश्चिमी क्षितिज देखकर एक सत्तर वर्षीया वुढ़िया ने कहा, 'मैंने तो ऐसा सूर्यास्त कभी नहीं देखा !' चित्रकार ने, जो पास ही खड़ा था, उत्तर दिया, 'और तुम देखोगी भी नहीं।'

अपनी इस वैयक्तिक अनुभूति को ही दूसरों तक पहुँचाने के लिए कलाकार अधीर रहता है, उसके साधारणीकृत रूप को नहीं, भाषा या शिल्प के क्षेत्र में पहुँच-

कर उसे कठिनाई का जो अनुभव होता है वह भी इसी कारण कि भाषा का साधारण रूप, अनुभूति के केवल निर्वैयक्तिक (Impersonal) रूप को ही पकड़ पाता है; उसका आत्मगत या विषयिगत रूप सहज ही उसकी पकड़ में नहीं आता। अतः जब कवि नये शब्द गढ़ता है या पुराने शब्दों का नया संस्कार करता है तो इसलिए नहीं कि वह अपनी विशिष्ट अनुभूति को, सामान्य अनुभूति बना कर रखना चाहता है *बल्कि इसलिए कि कहीं उसकी अनुभूति की विशिष्टता खो न जाय।* इस प्रकार काव्य-मात्र में साधारणीकरण का नहीं, विशेषीकरण का ही सिद्धान्त काम करता है। 'दूसरा सप्तक' के प्रकाशन के समय अज्ञेय शायद इतना साहस नहीं बटोर सके कि कह दें—कविता में–विशेषकर नयी कविता में, विशेषीकरण का सिद्धान्त ही मान्य हो सकता है।

6 आधुनिकता का सन्दर्भ और साम्प्रतिक हिन्दी-लेखन

हिन्दी के साम्प्रतिक लेखन से लोगों को शिकायत है, मुझे भी है। शिकायत यह है कि वह समसामयिकता से कटा हुआ है या उसके साथ मात्र एक सतही सम्बन्ध बनाये है जैसे कोई टूटी डाल छिलके की एकता के सहारे वृक्ष से झूल रही हो, अस्थि-मांस का रिश्ता तोड़ कर मात्र त्वचा-धर्म से जुड़ी हो। जिस देश में वाणी और लेखनी पर कोई प्रत्यक्ष अंकुश न हो वहाँ का साहित्यकार हर प्रकार की सामाजिक, राजनीतिक एवम् आर्थिक विषमता और भ्रष्टाचार की यंत्रणा को झेलता हुआ काम-सूत्र के धागे सुलझाता-उलझाता रहे और मांस के दरिया में डूबता-उतराता रहे—इससे अधिक अबूझ पहेली और क्या हो सकती है! पश्चिम में सार्त्र, काम्यू जैसे साहित्य-कार तथा रसेल जैसे दार्शनिक आर्थिक-राजनीतिक अनाचारों के विरोध में उठे सक्रिय विद्रोह का नेतृत्व संभालते हैं तो भारत में 'भोगे हुए यथार्थ' की दुहाई देने वाले सृजनधर्मा साहित्यकार मुट्ठी खींच जाते हैं और पशुओं के समान गूंगे बन जाते हैं। पता नहीं कौनसा यथार्थ वे भोगते हैं या कि यथार्थ की उनकी परिभाषा क्या है! यह विश्वसनीय नहीं लगता कि जीवन के व्यापी संत्रास का उन्हें परिचय न हो, बल्कि कहना चाहिए, वे उसकी मारक चोट को भीतर ही भीतर बर्दाश्त करते हैं पर चेहरे पर शिकन तक नहीं लाते। समझ में नहीं आता क्यों वे लेखकीय ईमानदारी दिखाने से कतराते हैं। ऐसा नहीं है कि वे आवेश में आते ही न हों, पर जब आते हैं तो उनका आक्रोश बासी कढ़ी के उबाल की तरह नितान्त निर्गुण भाव से प्रकट होता है। उनकी मुट्ठी बंध जाती है पर वे जानते नहीं कि घूंसा कहाँ मारें! अन्ततः यौन सम्बन्धों के सीमित किन्तु चिर-परिचित क्षेत्र में पहुँच कर देर तक गत्ते की तलवार भांजते हैं। उनका जड-निष्क्रिय विरोध विद्रोह के नाम पर यौन कुण्ठाओं की अभि-व्यक्ति-बन कर प्रकट होता है। सरकारी तौर पर हर नगर के साहित्यकारों के लिए दस बीस सुन्दरियों की व्यवस्था हो जाये तो शायद उनका सम्पूर्ण असन्तोष भीतर ही भीतर गल कर बह जाय और वे खीसें निपोर दें। फिर न तो उन्हें आर्थिक शोषण से शिकायत रह जाय, न सामाजिक असंगतियों से, न राजनीतिक उत्पीड़न से और न

साम्राज्यवाद के पर्दे के पीछे से खींचे जाने वाले अदृश्य सूत्रों से। जंगल को भूलकर आख़िर ये लोग पेड़ क्यों गिनने लगते हैं ?

समसामयिक जीवन की ज्वलंत समस्याओं की अवहेलना तो की ही जाती है, बौद्धिक स्तर पर उसका औचित्य सिद्ध करने की भी चेष्टा होती है। पर यह दलील कि साहित्य का समाज-नीति से, धर्म-नीति से, अर्थ-नीति से, राज्य-नीति से कोई वास्ता नहीं है, बहुत ही लचर है, कारण कि जीवन-नीति का निर्धारण इन सभी नीतियों के घात-प्रतिघात एवम् पारस्परिक घर्षण के परिणामस्वरूप होता है तथा जीवन-स्थिति का भोग उसकी समग्रता में होता है; वह टुकड़ों में बँटी हुई नहीं है कि उसका बारी-बारी से भोग किया जा सके! आत्मरक्षा के लिये ली जाने वाली दूसरी आड़ 'सार्वकालिक' साहित्य-रचना की है। पूछा जाता है कि क्या साहित्य से समसामयिकता की माँग करना जायज़ है और क्या सार्वकालिक साहित्य की रचना करने वाली महान प्रतिभाओं से निपट युगीनता की माँग करना टुच्चापन नहीं है ? क्या ऐसा करना काल के अविच्छिन्न प्रवाह को टुकड़ों में बाँटकर देखने का परिणाम नहीं है ? इस तर्क में ज़रूर कुछ जान है और यह सच है कि महान प्रतिभाएं काल को एक अखण्ड प्रवाह के रूप में देख पाने में समर्थ होती हैं और साहित्य की परि-दर्शनशाला में जीवन के जिस व्यापक सत्य को सजाती हैं, सामयिकता मात्र उसका एक अंश होती है, पर जिसे 'सार्वकालिक साहित्य' कहा जाता है, अनागत भविष्य के अनंत विस्तार के संदर्भ में क्या वह एक मिस्नोमर नहीं प्रतीत होता ? दूसरे, साम-यिकता के इच्छित समावेश का आग्रह भले ही महान प्रतिभाओं में न दिखाई पड़े पर वे उससे परहेज़ भी नहीं करतीं। आज तक के विश्व-साहित्य की शायद ही कोई कृति हो जिसमें जाने-अजाने सामयिकता का बहुत कुछ अंश प्रवेश न पा गया हो। अन्ततः कृति की महानता और समसामयिकता में मूषक–विडाल बैर तो है नहीं। और कभी कभी तो सामयिकता के समग्र-सूक्ष्म चित्रण ने ही कृति को क्लासिक बना दिया है। तीसरे, हिन्दी में कितने ऐसे लेखक हैं जिन्हें युगयुगीन साहित्य का निर्माता कहा जा सके ? सामयिकता से मुँह चुराने का एक और रास्ता है काव्य-रचना के उद्देश्य-कथन के प्रसंग में सभी प्रतिबद्धताओं को नकारते हुए 'स्वान्तः सुखाय' नामक घोंघे में अन्तिम शरण लेना जो और भी बेमानी है क्योंकि अपनी रचना के मुद्रण-प्रकाशन-प्रसारण की छटपटाहट छोटे बड़े सभी रचनाकारों में समान रूप से दिखाई पड़ती है। स्थिति को देखते हुए तो यही लगता है कि हमारे आज के लेखक-वर्ग ने पलायन का एक नवीन मार्ग खोज निकाला है, एक नया शुतुर्मुर्गी खेल ईजाद किया है। इस ईजाद के पीछे जो कारण रहे हैं उनमें बाहर वालों की अपेक्षा लेखक के भीतर वाले कारण अधिक महत्त्वपूर्ण और दिलचस्प हैं।

आधुनिकता का मोह बुरी चीज़ नहीं है पर यह भ्रान्ति पालना कि पश्चिम की आधुनिकता भारत की भी आधुनिकता है—उस मानसिक दासता का परिणाम है

जो गत दो शताब्दियों की संस्कारिता से उत्पन्न हुई है। यह दुर्भाग्य की बात है कि खाद्यान्न के साथ-साथ मस्तिष्क के लिये विचार-सामग्री भी हम आयात करने लगे हैं और अल्ट्रा माडर्न कहलाने की अपनी हुमक में पश्चिम के साहित्यिक मतवादों के बिरवों की रोप भारत की वैचारिक भूमि पर बिना यह देखे लगा रहे हैं कि इस भूमि से जीवन-रस खींच पाने में वह समर्थ भी है अथवा नहीं। आधुनिकता वस्तुतः परम्परा के आज तक के अन्तिम विकास का नाम है और वह समूची परम्परा के समग्र वेग से उसी प्रकार उद्भूत होती है जिस प्रकार मूल, तने, शाखा और टहनी के समग्र वेग से पुष्प और फिर फल विकसित होता है। इस प्रकार आधुनिकता न तो परम्परा से विच्छिन्न की जा सकती है और न ऊपर से चिपकाई जा सकती है। परम्परा और आधुनिकता के इस सावयवी सम्बन्ध को नजरअन्दाज़ कर आज जो विदेशी कलमें लगाई जा रही हैं, वे देखने में भले ही आकर्षक एवं आह्लादकर हों पर जनमानस में तो आश्चर्य ही की प्रतिक्रिया उत्पन्न करती हैं। इस भाँडपन से चौंकाने की प्रवृत्ति इधर बहुत ज़ोरों से चल पड़ी है और जो इस मसखरेपन से अनुरंजित होने से इन्कार करते हैं उनके लिये 'दकियानूस', 'परम्परावादी', 'यथास्थितिवादी' जैसी कुछ गालियाँ भी ईजाद कर ली गई हैं। हमारी बुद्धि इतनी अधिक बासी पड़ गई है कि कभी-कभी तो ये गालियाँ भी हमें पश्चिम से उधार लेनी पड़ती हैं जिनके हिन्दी-अनुवाद दूसरों पर भालों की तरह फेंक फेंक कर हम डॉन क्विग्ज़ोट का सा सन्तोष-लाभ करते हैं। आधुनिकता के सम्बन्ध में दूसरी कठिनाई यह है कि जिस युग में हम जी रहे हैं उसमें वह दीर्घजीवी नहीं हो पाती। आयातित आधुनिकता यहाँ की भूमि में जड़ पकड़े, उसके पहले ही वह पुरानी पड़कर परम्परा का अंग बन जाती है और हमारा लेखक पश्चिमी आधुनिकता के नवीनतम संस्करण को पकड़ पाने के लिये बेताब हो उठता है। इस प्रकार वह व्यस्त भाव से फुनगी से फुनगी पर उछलता रहता है और ज़मीन पर उतरने का अवसर तक नहीं पाता। फिर देशी सवाल अनुत्तरित रह जायँ तो क्या आश्चर्य है!

आज की असंतुष्ट पीढ़ी का विद्रोह वाणी के माध्यम से ही क्यों प्रकट होता है कर्म के माध्यम से क्यों नहीं, यह एक अहम सवाल है। किसी सीमा तक हमारी 'कछुआ' संस्कृति भी इसके लिये ज़िम्मेदार ठहराई जा सकती है जिसकी पृष्ठभूमि में निष्क्रियवादी दार्शनिक मतवादों की भीड़ रही है पर अधिकांश ज़िम्मेदारी हमारी आज की पीढ़ी के बुद्धिजीवी की है। कर्म के लिए जिस पौरुष एवं स्नायविक दृढ़ता की अपेक्षा रहती है—वही उसमें नहीं है। उसका व्यक्तित्व लुञ्ज-पुञ्ज है, उसकी रीढ़ की हड्डी टूट चुकी है। अपमानित होने पर घोड़े-गधे ही नहीं, गिरगिट तक अपनी गर्दन तानते दिखाई पड़ते हैं पर मनुष्य नाम का जीव अब सारा आत्म-गौरव भूल कर पृथ्वी के समानान्तर चलने लगा है। भय है, कल वह निरीह कीड़ों की भाँति रेंगने न लगे। क्यों वह सारी विद्रूपताओं को विवश भाव से ग्रहण करता चला जाता है, क्यों

परिस्थितियों को अवश होकर अपनी रीढ़ तोड़ने देता है ? शायद इसलिए कि उसे अपनी शक्ति में विश्वास नहीं है या इसलिए कि परम्परा के विरोध का उसमें साहस नहीं है या इसलिए कि उसकी संस्कारिता बाधा बन कर उपस्थित हो जाती है। उसका चेतन मन अपने को आधुनिक और परम्परा-विरोधी समझता है पर उसका अवचेतन घोर संस्कारवादी बना हुआ है। भाषणों में वह व्यवस्था के चिथड़े उड़ा देता है पर भूख-हड़ताल करने के दिन अचानक उसकी कन्या के लग्न का मुहूर्त्त हो जाता है। वह चेतन और अवचेतन के इस द्वैत से पीड़ित है; इन दो विरोधी स्थितियों में निरन्तर विभक्त है और इसीलिये किसी भी प्रकार का निर्णय लेने में असमर्थ है। किसी कुमारिका के सौन्दर्य पर वह मुग्ध है पर उसे लेकर भाग नहीं सकता। हिप्पी के मुक्त जीवन का प्रशंसक है पर स्वयं हिप्पी नहीं हो सकता। उसकी मनौती है कि योनियाँ चाय की भाँति ही चौराहों पर उपलब्ध हों पर यदि वे होने लगें तो वह शायद लेने का साहस ही न कर सके। यह भी हो सकता है कि स्वयम् कर्म से उदासीन रहने के कारण वह यह भी चाहने लगे कि उन्हें लेने के लिए किराये पर मिलने वाले कुछ पुरुष भी उपलब्ध रहें। और यौनियाँ ही क्यों, विपरीत वस्तु भी तो उसी प्रकार सर्वसुलभ होनी चाहिये और ऐसा होने लगे तो वह अपनी पत्नी और बहिन के मुक्त विचरण पर प्रतिबन्ध नहीं लगा देगा ? संस्कारिता फिर उसके मार्ग में नहीं आ खड़ी होगी ? पर यह सब कुछ मानसिक मैथुन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है जो पुनः लेखकों की पुंसत्वहीनता का संकेत देता है क्योंकि कर्म में जिनका विश्वास है वे बातों में अपना समय नष्ट नहीं करते।

7

पंतजी की दो अभिनव काव्य-कृतियाँ

कविवर सुमित्रानन्दन पन्त का चेतना-काव्य जीवन और जगत के प्रति एक नवीन और व्यावहारिक दृष्टि विकसित करने का प्रयत्न करता रहा है। 'ज्योत्स्ना' के रचना-काल (१९३४ ई०) से लेकर अब तक पूरे चार शतक के सृजन में कवि बराबर ऐसे मूल्यों की खोज में रहा है जो भू-जीवन को अधिक रुचिकर एवं सुखकर बना सकें। उदार वैचारिकता के धरातल पर किये गये व्यापक अध्ययन, गहन चिन्तन एवं मनन के फलस्वरूप उसे जिन नूतन एवं उपयोगी जीवन-मूल्यों की उपलब्धि हुई है, उन्हें वह अपने नवमानवता के स्वप्न में सँजो लेना चाहता है। इधर हाल के (१९६३ ई०) प्रकाशित उसके दो नवीनतम काव्य-संग्रह—समाधिता और आस्था—भी उसी परिचित मूल्य-शृंखला की कड़ियाँ हैं।

कवि का विश्वास है कि विश्व द्वारा अब तक अपनाई गई जीवन-दृष्टियाँ एकांगी रही हैं। मोटे रूप में, या तो वे सम्पूर्ण स्थूल जगत् को असत्य ठहरा कर आत्म-परमात्म के निभृत गगन में पंख मारती रही हैं, या सूक्ष्म की सत्ता को नकार कर देहवाद और इन्द्रियवाद के अधोमुखी जीवन में भटक गई हैं। भारतीय चेतना प्रारम्भ ही से भू-जीवन की यथार्थता से पलायन कर क्षणभंगुरता के प्रश्न का समाधान खोजती रही और झूठी मुक्ति के खोखले चिन्तन में उलझी रही। जगत के दर्पण में प्रतिच्छवित ईश्वर की शाश्वत शोभा-गरिमा को वह नहीं देख सकी और इसीलिए धरती के जीवन का मुख न सँवार सकी। उधर पश्चिम की चेतना हृदय एवं आत्मा के रागात्मक स्पर्श से वंचित हो, इन्द्रिय-सुख प्रदान करने वाली भू-सम्पदा का अम्बार लगाती रही। वह विदेश, विधर्म और विजाति के जनों में जनार्दन का दर्शन न कर सकी इसीलिए अतिरिक्त उत्पादन का मानव-मात्र में वितरण न कर, उस पर एकाधिकार रखने के अपने मद में अमोघ आण्विक अस्त्रों का निर्माण तथा विश्व-युद्धों का आयोजन करने लगी। कवि का निष्कर्ष है कि अब विनाश के कगार पर खड़ी मानवता की रक्षा एवं अभिवृद्धि के लिए एक नतन दृष्टि की आवश्यकता

है—ऐसी दृष्टि की, जो रागात्मकता और बुद्धि, ऊर्ध्व और समदिक् स्थूल और सूक्ष्म में सन्तुलन स्थापित कर सके।

आज विश्व-मानवता भेद-बुद्धि की दीवारों के कारण अनेक मतों और वादों में बिखरी हुई है। अनेक प्रकार के वर्ग-स्वार्थों ने मनुष्य को मोहान्ध बना रखा है। ऐसा मात्र आर्थिक स्पर्द्धा के कारण नहीं हो रहा; भौतिक सम्पदा की जड़ता से मनुष्य की बुद्धि स्वयम् आक्रान्त हो गई है। वह बहिर्भ्रान्त होकर कुण्ठित हो गई है और भाव का, हृदय का स्पर्श खो बैठी है। ऐसी बात नहीं, तो फिर कौनसा वह अभाव है जिसके कारण मनुष्य आज मनुष्य न रहकर मात्र देह-यन्त्र रह गया है? धन, पद, शिक्षा आदि तो आज प्रचुर मात्रा में सुलभ हैं। वस्तुतः बाह्य भोग में रत मनुष्य की आत्मा कुण्ठित हो गई है और आत्म-ज्योति के अभाव में उसका अन्तर अतृप्त है। उसकी जीवन-गति त्रास, निराशा, कुण्ठा और अनास्था से व्याप्त है तथा मानव-यात्री के चरण रक्त-पंकिल हैं। बौद्धिकता आज के जड़ीभूत जन को नवीन चेतना का स्पर्श देने में असमर्थ है। भू-मन से जब तक घृणा-द्वेष आदि दूर नहीं होंगे, तब तक मात्र भौतिक धन से नवमानवता का स्वर्ग शायद ही बसाया जा सके। आज हृदय की, भाव की क्रान्ति की आवश्यकता है। मनुष्य बाहर बाहर ही बदला है, भीतर तो उसकी बर्बरता में कोई उल्लेख्य कमी नहीं आई है। भू-मन आज भी युगों-पुरानी रूढ़ि-रीतियों में जकड़ा है; जातियों, धर्मों, सम्प्रदायों और अन्धविश्वासों में युग-चेतना पथराई हुई है। अतः जन-समाज में आन्तर क्रान्ति अवतरित करनी है जो युग का यथार्थ है। केवल तभी नवीन मानवता, विश्व-मानवता का समारम्भ सम्भव है; भले ही देशों की शासन-पद्धतियाँ पृथक् पृथक् रहें। मनुष्य की एकता ही भावी की आध्यात्मिकता होगी। नवीन मानवी पीढ़ी के निर्माण का उद्बोधन कवि की भाव-सक्षम शब्दावली में दर्शनीय है :

स्वार्थ क्षुधित हड्डी के पंजर
रेंग रहे जो
कुत्सित साधों की
कीचड़ में भग्नरीढ़ हो
भाव-शिराओं में
स्पन्दित कर नई चेतना
नया मनुष्य बनाओ उनको
गरिमा–मण्डित !
मनुज प्रीति के स्वस्थ रक्त से
संपोषित कर
शोभा मांसल करो
भूत के कंकालों को !

ध्वंसात्मक के स्थान पर विज्ञान रचनात्मक बन सके, इसके लिए बुद्धि को हृदय से समन्वित करने की अपेक्षा है। जब तक जगत् बाहर और भीतर—दोनों ओर से संस्कृत न हो, विश्व-मानवता का स्वप्न आकार ग्रहण करने में असमर्थ ही रहेगा। प्रश्न उठता है कि हृदय के संस्कार का अर्थ क्या है और वह किस विधि से प्राप्य हो सकता है ? पंतजी के अनुसार संकीर्णता से मुक्त होकर हृदय द्वारा उदार वृत्ति अंगीकार करना ही उसका संस्कार है और ध्यान-योग की विधि से वह सहजगम्य है। ध्यान-योग का अभ्यास करते करते किसी दिन अचानक ही अन्तर, घट में निहित सूक्ष्म तत्व (उसे आत्मा भी कहा जा सकता है, ईश्वर भी) के प्रीति-स्पर्श से रस-पुलकित हो उठता है। अचानक ही जब वह हृदय को छू देता है तो तम के गोपन कोने आलोकित हो उठते हैं। मन अनेक उत्थान-पतन की भूमि पार कर समुद्र के सदृश व्यापक और गम्भीर बन कर स्थिर हो जाता है। तब चित्त में कोई संघर्ष शेष नहीं रह जाता और वह राग-द्वेष, ईर्ष्या-भय आदि से मुक्त हो जाता है। हृदय सदा उल्लसित रहता है और इस उल्लास के कारण सम्पूर्ण जगत् प्रसन्न-सा लगने लगता है। चित् के उस अज्ञात स्पर्श या उन्मीलित दृष्टि के पश्चात् कवि को एक नूतन यथार्थ का बोध होता है :

उग रहा यथार्थ नया भू पर
    लगता अब सब कुछ ठोस घना,
मेरी आँखों के सम्मुख ही
    दिखता जन जगत नवीन बना !
यह नहीं रिक्त कल्पना मात्र
    अनुभूति प्रबुद्ध हृदय-मन की,
नवमानवता में सी ढलती
    लगती अब आकृति जन जन की !

पंतजी की गणना इसीलिए हिन्दी के द्रष्टा कवियों में है। वह स्वीकार करते हैं कि डार्विन, फ्रायड, लेनिन, गाँधी और मार्क्स हमारे नवयुगद्रष्टा हुए जिन्होंने अपने युग जीवन का गहन मनन और अध्ययन कर जगत् को सत्य के विविध सूत्र दिये— जिनके ताने-बाने से वर्तमान युग-जीवन का पट बुना जा सका। ये सब यथार्थ द्रष्टा थे जिनका श्रम, तप और संयम जग-जीवन के मंगलमय क्रम-विकास में सार्थक हुआ। इनमें से प्रत्येक ने जग-जीवन को नये रूप में ढालने की नवीन चेतना दी, नूतन दृष्टि दी जिसके फलस्वरूप पृथ्वी पर एक नया आलोक उतरा और मानव-शिराओं में नवीन रक्त झंकृत हुआ। इतिहास साक्षी है कि जब भी पृथ्वी पर ऐसी कोई महच्चेतना अवतीर्ण हुई है, भूतल का मानचित्र ही बदल गया है; बौने तर्क, संकीर्ण विचार, रूढ़ जीवन-पद्धतियाँ आदि सब नवचेतना के ज्वार में डूब गये हैं

और कुण्ठा, निराशा, संशय, त्रास और अनास्था का अन्धकार छिन्न-भिन्न हो गया है। नूतन भावों की ज्योति-वृष्टि में पृथ्वी नहा उठी है और जीवन के प्रति एक नवीन आस्था उत्पन्न हुई है जिससे नवीन समाज का निर्माण हुआ है। अन्ततः समाज के निर्मायक तत्व हैं कौनसे ? उत्पादन-यन्त्र, वस्तु-सम्पत्ति, तर्क, चिन्तन, विचार, आदर्श, दर्शन-सिद्धान्त, इतिहास, सुरक्ष-बोध आदि के जड़ द्रव्यों से समाज नहीं निर्मित होता। जब जन-जीवन में नूतन चेतना का ज्वार उमड़ता है तो वह मनुष्य को नूतन सांस्कृतिक सम्बन्धों में बाँध कर नये सिरे से समाज-रचना करता है—विश्व को महाभाव की स्वर-संगति में समाहित कर लेता है। यथार्थ के इन द्रष्टाओं के साथ साथ भविष्य के अन्तर्द्रष्टा के रूप में अरविन्द आये जिन्होंने यथार्थ और आदर्श को संयोजित कर नूतन धरा-स्वर्ग का, दिव्य पुरुष का स्वप्न प्रदान किया—ऐसा पुरुष जिसकी तुलना में आज का नर शरीर से पशु और मन से खण्ड सत्य का ज्ञाता है। कवि पन्त की आत्म-स्वीकृति है कि उसकी अन्तर्दृष्टि 'ज्योत्स्ना' की रचना से पूर्व ही उद्घाटित हो गई थी और उस पर झीना-सा जो पट रह गया था वह महर्षि अरविन्द के आश्रम में पहुँचने पर दिव्य ज्योति का स्पर्श पाकर उठ गया था। अब 'ज्योत्स्ना का मंच' जैसे अधिक विस्तार पा गया था। कवि का विश्वास है कि इस नूतन दृष्टि से युक्त होकर ही वह युग-मन में गहरा, और गहरा पैठता गया :

> और खोलता रहा
> सूक्ष्म शोभा के कर से
> गुह्य द्वार पर द्वार
> चेतना के वैभव के
> भाव-जगत् में खुले दृगों से
> धरा स्वर्ग की
> भावी रचना रहा देखता !

व्यक्ति का मन जब तक अध्यात्म के सोपानों पर नहीं चढ़ता, तब तक उसका सूक्ष्म अन्तश्चेतन उद्बुद्ध नहीं होता और ऐसी स्थिति में उसके मुख से निस्सृत होने वाले मानवी एकता के शब्द, शब्दाडम्बर मात्र होते हैं, रटी हुई शुक-वाणी होती है। हृदय के भीतर समाई स्वर्ग की सूक्ष्म गन्ध को व्यक्ति यदि ग्रहण नहीं कर पाता तो समझना चाहिए कि अभी उसकी भीतर की घ्राणेन्द्रिय विकसित नहीं है; उसका मन अभी पंक ही से परिचित है, पंकज से नहीं। ऐसे लोग अन्तः सत्य के दर्शन नहीं कर पाते; सत्य के सतही रूप में उलझ कर रह जाते हैं, भीतर नहीं पैठ पाते :

> फेनिल हो तुम सिन्धु
> न कुछ भी विस्मय इस में,

यही वास्तविकता जीवन की
बहुत फेन है !
जग-जीवन में
बहुत झाग है, बहुत फेन है !
जो भी अन्तः सत्य
छिपा है वह दिग्व्यापी
झाग के तले !
गहराई में अतल
उतरने के बदले मन
उलझा रहता सतही
झागों ही के जग में !

पर इसका यह अर्थ लेना कि कवि को बुद्धि, मन, इन्द्रिय आदि चेतना की निम्नतर स्थितियाँ स्वीकार्य नहीं हैं, सत्य से दूर जा पड़ना होगा। इनकी सत्यता को कवि नकारता नहीं पर महर्षि अरविन्द ही कि भाँति, उसे इस बात से आपत्ति अवश्य है कि विकास की अपरिमित सम्भावनाओं की क्षमता वाली चेतना का स्वामी मनुष्य इन्द्रिय-धरातल पर पशु की भाँति योनि-गर्त्त ही में पड़ा रहे या मात्र बुद्धि को ही चेतना का सर्वोच्च शिखर मान कर भटका रहे और द्वन्द्वों की सतह प्रतीति से ऊपर न उठ सके ! कवि तो इस विकासकामी सृष्टि में सब कुछ को, न केवल सत्य मानता है अपितु उसे विकास-क्रम के लिए उपादेय भी मानता है। भू-जीवन के पाप सहज पवित्र हैं क्योंकि मानव-जीवन विकास के पथ पर है। न कोई व्यक्ति बुरा है, न पापी। उसमें काम-क्रोध और लोभ-मोह की जो प्रवृत्तियाँ हैं वे स्वयम् विश्व-प्रकृति से उत्पन्न होती हैं और जग के क्रम-विकास में उन सब का उपयोग है :

सहज सत्य सुन्दर
इन्द्रिय-आवेगों का पथ
भाव-अश्व से संचालित
विश्वात्मा का रथ,
शिव जग-जीवन लक्ष्य
बोध वल्गा से प्रेरित
मातृ-प्रकृति के क्रम-विकास—
पथ पर रथ धावित !

उपरिनिर्दिष्ट मूल्यों अर्थात् जीवन-दृष्टि की समग्रता, आन्तर क्रान्ति के सूत्र-पात एवम् नूतन सांस्कृतिक सम्बन्धों की स्थापना के अतिरिक्त वे कौन से जीवन-मूल्य हो सकते हैं जिन्हें बो कर नवमानवता की सघन फसल उगाई जा सके? अपनी एक कविता में कवि ने यह प्रश्न उठा कर स्वयं इसका उत्तर भी प्रस्तुत किया है। मनुष्यों का ऐसा संगठन जो साहसपूर्वक अत्याचार का सामना कर सके, अन्यायी का सामाजिक स्तर पर लांछन, सर्व जीव समता की भावना, श्रम और अवकाश की सुविधा, अधिकारों की समानता, सौन्दर्य और प्रेम के प्रति विकसित दृष्टि, नूतन बोध के क्षितिजों का उद्घाटन, मन का रचना-प्रेमी होना आदि भावी मानवता की रचना के उपादान होंगे तथा त्याग, प्रेम, संयम, विनय, साहस, धैर्य और आस्था के भीतरी गुणों का सौन्दर्य बाह्य जगत में बिखरेगा। इनमें से कुछ मूल्यों पर कवि ने विस्तार से प्रकाश डाला है।

सप्तम दशक तक यद्यपि कवि 'ऊर्ध्व' और 'समदिक्' के सन्तुलित सामंजस्य की बात अवश्य करता था पर यह सत्य है कि उसका काव्य ऊर्ध्व के भार से बहुत अधिक बोझिल था। तब कवि द्वारा की जाने वाली समदिक् विकास की चर्चा एकांगीपन के आक्षेप से बचने का प्रयत्न-भर प्रतीत होती थी। पर सप्तम दशकोत्तर काव्य में, विशेषतः प्रस्तुत दो काव्य-संग्रहों में आकर कवि ने दोनों में अपेक्षित सन्तुलन ढूँढ़ लिया है। अब ईश्वर और जगत् में उसके लिए कोई अन्तर नहीं है, बल्कि उसके निकट जग-जीवन ही ईश्वर का सर्वोपरि प्रतिनिधि है। इसीलिए अब वह सत्कर्म की प्रार्थना से भूतल के मन्दिर को पावन बनाना चाहता है। कवि का दावा है कि इस नवीन दर्शन से वह ईश्वर को मनुष्य के और निकट ले आया है। कवि ने बौद्ध दर्शन के इस सिद्धान्त का प्रत्याखान किया है कि जीवन दुःख का मूल है तथा डार्विन प्रभृति प्राणिशास्त्रीय विकासवादियों के इस निष्कर्ष को भी नकार दिया है कि जीवन मात्र एक संघर्ष है। कवि के अनुसार ये दोनों मान्यताएँ अर्द्ध-सत्य का प्रतिपादन करती हैं; पूर्ण सत्य तो यह है कि जीवन दुख और सुख, दोनों का समाहार करते हुए, दोनों से अतिशय भी है—वह आनन्द रूप है। यही कारण है कि उसकी कविता अब जग-जीवन से तादात्म्य स्थापित करती हुई दिखाई देती है :

पृथक् नहीं अब मुझसे कविता
जीवन में जो पाता
उसे अनूदित करता
काव्य–बोध में !
बाँध छन्द-लय में
अनुभव को !
+ +

मुझे बाँधना नये छन्द में
जग-जीवन को
वस्तु-जगत को
भाव-जगत में कर
रस-परिणत !

सम्पूर्ण जग-जीवन को ईश्वर ही का रूप मान लेने के कारण कवि अब जप-तप आदि उन साधनों को निरर्थक मानने लगा है जो कभी वैयक्तिक मुक्ति के प्रदाता माने जाते थे। व्यक्ति-चिन्तन का युग अब लद गया है; सामूहिक चिन्तन और सामूहिक जीवन आज का युग-बोध है :

अब गया व्यक्ति-चिन्तन का युग
श्रेयस्कर सामूहिक मंथन
जीवन-विकास-पथ पर क्रमशः
आ रहा वृहद् युग परिवर्त्तन
भूमा – सामूहिक जीवन – पर
जन–हास अश्रु निज-पर निर्भर !

× × ×

जन–इच्छा जन-संकल्प-शक्ति
सर्वोपरि अस्त्र, नहीं संशय !

हमारे रागात्मक मूल्य अब भी असंस्कृत हैं और प्रेम तथा सौन्दर्य के प्रति हमारे मन की रुचि विकसित नहीं हो सकी है। समाज आज भी 'नारी' को भोग-यन्त्र, 'सौन्दर्य' को त्वचा-धर्म और 'प्रेम' को कामेच्छा के धरातल से ऊपर नहीं उठने देता। यदि भू-यौवन ऊर्ध्व-काम हो सके तो वह नवमानवता का वाहन हो सकता है। कवि नारी-जाति को उद्‌बोधन देना चाहता है कि वह शोभा के छिलके में लिपटा हुआ शरीर मात्र न रहे; मन से सुन्दर बने। गूलर-फल सा मात्र बाह्य सौन्दर्य हृदय में घर नहीं करता। उसे चाहिए कि वह सीता, सावित्री और राधा के मध्यकालीन आदर्शों को अतिक्रम करके अग्निपरीक्षा, विरह-वेदना और दास्य-भाव के स्वर्ण-पिंजरे से बाहर निकल आये और भूतल पर नवीन प्रीति का प्रतीक बने। वह शील और शोभा की मूर्त्ति बन कर निःसंकोच भाव से सबसे मिले-जुले और अपने मनः संस्कार से नर के मन को अन्तर्दीप्त करे :

मन के मुख पर
मधुर शील का हो सित गुंठन

गृह में तन, सामाजिकता में
हो उसका मन
अधिक प्रीति से करुणा हो
जग के प्रति चेतन !

आज के युवा-वर्ग में जो असन्तोष, अशिष्टता और दिग्भ्रम व्याप्त है उसका एक मात्र कारण है वर्तमान शिक्षा-पद्धति की निरर्थकता। शिक्षा के नाम पर नवयुवकों को विविध विषयों की सूचनाएँ-भर दी जाती हैं, रचनात्मकता का पाठ नहीं पढ़ाया जाता। शिक्षित युवक इसी कारण समाज की तो दूर, अपनी सेवा के योग्य भी नहीं बन पाते। शिक्षा के क्षेत्र में क्रान्ति की आवश्यकता प्राथमिक है। शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिसकी जीवन-संदर्भ में सार्थकता असंदिग्ध हो। शिक्षार्थी के चक्षुओं के सम्मुख आलोक के नवीन क्षितिज खुलने लगें और शिक्षा की पूर्णता पर वह पूर्ण मानव बन कर जीवन के कर्म-क्षेत्र में निष्ठा और आत्म-विश्वास के साथ प्रवेश कर सके :

इनके लिए गढ़ो
प्रबुद्ध शिक्षा-पद्धति नव
× × ×
नयी पौध अतिक्रम कर
गत इतिहास का गरल
लाँघ रूढ़ियों का समुद्र
खारा, पथराया
नव मानवता की प्रतीक
बन सके धरा पर,
खुलें नए आलोक-क्षितिज
उनके दृग-सम्मुख !

आज के राजनेताओं के प्रति भी कवि के मन में गहरा आक्रोश रहा है। आज लोगों को अन्न, वस्त्र और आवास भी दुर्लभ हो रहा है। यह 'भूखे भजन न होय गुपाला' वाली सूक्ति का संकट-युग है। भू के शासकों का कहना कि हमें नीचे से निर्माण करना है, हमें सर्व प्रथम दलितों का उद्धार करना है; मात्र आश्वासन के वाक्य हैं। वे स्वयं नीचे उतर कर कभी जन-जीवन का निर्माण नहीं करते क्योंकि उनके बुद्धि-मन शीर्षस्थ सुविधाओं के भोग के अभ्यस्त हैं। निरीह और भोली-भाली जनता को बहका कर, उनका जीवन दुह कर वे अपनी ही सुख-सुविधाओं के प्रबन्ध में लगे रहते हैं :

भू से ऊपर उठ
जन नायक का रथ चलता,
पथ हो जाते रुद्ध सभी
साधारण जन को !
जो कि प्रतीकात्मक है
जन-जीवन विकास के
सभी मार्ग वह
रुद्ध किए रहता निज बल से !

पर पंतजी को, महर्षि अरविन्द ही की भाँति पूर्ण विश्वास है कि जग-जीवन को विषम बनाने वाली ये सब स्थितियाँ अब अधिक समय तक चलने वाली नहीं हैं। मानव-इतिहास अब शीघ्र ही करवट लेने को है और आने वाले जड़-चेतन के रण में —चेतन की, मनुष्यता की विजय निश्चित है। विश्व के महामानवों के मन में विश्व-मानवता का स्वप्न स्पष्ट हो रहा है और वर्ग-भेदों की दीवारें क्रम-क्रम से ध्वस्त होती जा रही हैं। पर उस स्वर्ण-युग के आने में कितना समय और लगेगा, यह निश्चित रूप से कवि नहीं बता सकता पर आयेगा वह अवश्य—ऐसी कवि की अडिग आस्था है :

सृष्ट हो रहा नया जगत्
मानव अन्तर में—
उदय हो रहा सूर्यों का नव सूर्य
नव हृदय चिदाकाश में
नव प्रभात
होने को भू पर !

---

8 पन्तजी का उत्तरवर्ती काव्य : एक पुनर्मूल्यांकन

'स्वर्णकिरण' (१९४४-४५ ई०) और 'स्वर्णधूलि' (१९४६ ई०) से प्रारम्भ होकर कविवर सुमित्रानन्दन पन्त द्वारा अब तक लिखा गया काव्य उनके उत्तरवर्ती काव्य के नाम से जाना जाता है। विगत तीन दशकों के कवि के इस कृतित्व को हिन्दी–समीक्षकों ने अपनी अपनी समझ के अनुसार भिन्न भिन्न संज्ञाओं से अभिहित किया है। किसी ने उसे 'स्वर्ण-काव्य'[1] की संज्ञा दी, किसी ने 'अध्यात्म-काव्य'[2] की तो किसी ने उसे 'गुह्य काव्य'[3] कहना उपयुक्त समझा। यह भिन्नत्व इस बात का सूचक है कि हिन्दी के आलोचक, कवि की मूल चेतना को ग्रहण करने में अपेक्षित गम्भीरता से काम नहीं लेते; आलोचना यों लिख देते हैं जैसे आकस्मिक अवकाश लेने के लिए सामान्य-सा प्रार्थना-पत्र लिखा जाता है। पन्तजी का यह क्षोभ अकारण नहीं है कि उनके परवर्ती काव्य-सञ्चरण का मूल्यांकन करने में हिन्दी के आलोचक 'कृपण, अनुदार एवम् निर्मम' रहे हैं। भला इससे बड़ी विडम्बना क्या होगी कि हिन्दी-समीक्षकों को जिसमें कला-ह्रास के दर्शन हुए और जिसका कोई भविष्य नहीं दिखाई दिया,[4] पन्तजी का वही उत्तरवर्ती काव्य अखिल भारतीय स्तर पर 'ज्ञानपीठ पुरस्कार' के योग्य माना गया। मात्र हिन्दी-आलोचना ही उसे समादृत करने में असमर्थ रही; दिया-तले ही अँधेरा रहा। हिन्दी-आलोचना की इस असामर्थ्य के एकाधिक कारण रहे हैं।

---

1. डा० सत्येन्द्र, सुमित्रानन्दन पन्त (सं० शचीरानी गुर्टू). द्वितीय सं०, पृ० 179।
2. डा० नगेन्द्र, वही, पृ० 255।
3. विश्वम्भर मानव, सुमित्रानन्दन पन्त, पृ० 285।
4. "अब तो वे एक काल्पनिक और आदर्श मन : सृष्टि (यूटोपिआ) में निवास कर रहे हैं। श्री अरविन्द की छाया में पड़ा उनका अन्तिम चरण कोई चिह्न छोड़ पायेगा, इसमें मुझे सन्देह ही है।"
   —विश्वम्भर मानव, वही, पृ० 373।

पहला कारण तो यह है कि उत्तरवर्ती काव्य की मूल चेतना को लेकर आलोचकों में पर्याप्त मति-भ्रम रहा है। यह काव्य वस्तुतः नवीन मूल्यों का, नवीन चेतना का काव्य है। इस नवचेतना के स्वरूप को ठीक से हृदयंगम किये बिना इस काव्य पर दिया जाने वाला निर्णय अँधेरे में छोड़ा गया तीर होगा। नवचेतना से कवि का आशय जीवन और जगत् के प्रति एक स्वस्थ और सन्तुलित दृष्टि विकसित करने से है—ऐसी दृष्टि जो शरीर, मन और अतिमन (आत्मा) के सन्तुलित विकास द्वारा भूतल पर नवमानवता की प्रतिष्ठा करने में समर्थ हो सके। विश्व द्वारा अब तक अपनाई गई जीवन-दृष्टियाँ एकांगी और अतिवादी होने के कारण मानवता के हित-साधन में अक्षम रही हैं। पश्चिम की भूतवादी दृष्टि मनुष्य की अन्तश्चेतना की एकान्त अवहेलना करती हुई 'देहवाद' का पर्याय होकर संकुचित राष्ट्रीय स्वार्थों की टकराहट में विश्व-युद्धों का आयोजन करने लगी तो पूर्व की विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि सम्पूर्ण बाह्य जगत् को माया का प्रसार बताती हुई काल्पनिक स्वर्ग-अपवर्ग की उलझी पगडण्डियों पर भटक गई—दोनों ही अतिवाद की दो भिन्न स्थितियों में पहुँच कर लक्ष्य-भ्रष्ट हो गईं। ऐसी स्थिति में आवश्यकता एक स्वस्थ, सन्तुलित और समन्वित जीवन-दृष्टि की है जो न केवल विनाशकारी अणु-युद्ध के कगार पर खड़ी आतङ्कित मानवता की रक्षा करे अपितु उसे नये सिरे से सम्पन्न और सुखी बनाने में योग दे सके।

प्रचण्ड वैज्ञानिक आविष्कारों के इस युग में जब हमारा बाह्यजीवन विद्युत् और अणु-शक्ति की टाँगों पर तीव्र गति से धावित हो रहा है, हमारा असंस्कारित मन बहुत पीछे छूट गया है। शरीर भले ही हमारा अन्तरिक्ष-यान में उड़ता हो, मन तो बैलगाड़ी ही में यात्रा कर रहा है। यह अल्पविकसित अर्द्धसंस्कृत मन विज्ञान की शक्तिशाली उपलब्धियों का प्रयोग मानवता के संहार के लिए न कर बैठे, अतः उसके समुचित संस्कार की आवश्यकता प्राथमिक है। आर्थिक-राजनीतिक क्षेत्र की बाह्य क्रान्ति भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं पर रोटी-रोजी की समस्या को हल करने के साथ साथ आन्तर क्रान्ति भी उतनी ही आवश्यक है क्योंकि उसके अभाव में बाह्य जीवन की सारी प्रगति निरर्थक हो जाती है। मन को संस्कृत करने की दशा में सचेष्ट और इच्छित प्रयत्नों की अपेक्षा रहती है क्योंकि आन्तर विकास की गति अत्यन्त मन्द और श्लथ होती है। संस्कारों का संस्कार निश्चय ही दुस्तर कार्य है। आज विश्व के अधिकांश कष्टों का कारण बाह्य एवम् आन्तरिक क्रान्ति में हो जाने वाला व्यवधान ही है। अतः इन दोनों क्रान्तियों में सन्तुलन स्थापित करने की चेतना प्राथमिक है और यही है पन्तजी के उत्तरवर्ती काव्य की नवचेतना। खेद है, हिन्दी के प्रबुद्ध समीक्षकों ने कवि की इस मूल चेतना को ग्रहण करने में तनिक भी तत्परता नहीं दिखाई।

नवचेतना का सम्यक् स्वरूप-ग्रहण इसलिए भी बाधित रहा कि आलोचक पन्त की काव्य-चेतना को अलग-अलग खण्डों में बाँट कर अध्ययन करते रहे और उसकी एकसूत्रता उपेक्षित होती रही। नन्ददुलारे वाजपेयी जैसे सुधी आलोचक भी इस सीमा से ऊपर न उठ सके।[1] कवि की मूल चेतना का भी एक अपना प्रवाह होता है। गंगा की धारा के स्थान-भेद से अनेक नाम हैं पर इसका यह आशय नहीं कि गंगा की मूल धारा एक और अविच्छिन्न नहीं है। जहाँ तक पन्तजी का सम्बन्ध है, उनके काव्य में प्रधानता 'वाद' की नहीं, 'व्यक्तित्व' की है। विभिन्न वाद तो उनके व्यक्तित्व के प्रवाह में आने वाले उपकरण मात्र हैं। पन्तजी के परवर्ती काव्य की चेतना, जैसा कि अधिकांश आलोचक समझते हैं, अरविन्द-दर्शन के प्रभाव का परिणाम न होकर कवि की अपनी मूलभूत दृष्टि है जिसका आभास उनकी प्रथम कृति 'वीणा' (1918–19 ई०) में ही होने लगता है।[2] कवि का यह विज़न 'ज्योत्स्ना' (1934 ई०) नाटक में आते आते स्पष्ट आकार लेने लगता है। यदि सावधानी से विश्लेषण किया जाय तो 'ज्योत्स्ना' से उभरती हुई नूतन दृष्टि की निम्न रूपरेखा सहज ही देखी जा सकती है :

1 वर्त्तमान स्थिति से असन्तोष
   (अ) शोषण पर आधारित अर्थनीति
   (आ) अधिकारों पर आधारित राजनीति
   (इ) स्वार्थ पर आधारित समाजनीति
   (ई) मध्यकालीन रूढ़ियों पर आधारित संस्कृति
   (उ) सङ्कीर्णताओं में विभक्त मानवता
   (ऊ) पशु-वृत्तियों का प्राबल्य
   (ए) जीवन-सत्य के प्रति एकांगी दृष्टि

2. प्राचीन मूल्यों एवम् आदर्शों का ध्वंस
   (अ) भूतवादी अतिवाद
   (आ) अध्यात्मवादी अतिवाद
   (इ) जीवन के प्रति ऋण दृष्टि

---

1. "पन्तजी छायावादी से गांधीवादी बने। उन्हें मार्क्सवाद की हवा भी लगी और अन्ततः वे ऐकान्तिक अरविन्द दर्शन के क्षेत्र में चले गए।"
   —श्री सुमित्रानन्दन पन्त ; स्मृति-चित्र, प्रथम सं०, पृ० 115।
2. विस्तार के लिये देखिये लेखक का ग्रन्थ 'सुमित्रानन्दन पन्त का नवचेतना काव्य'।

3. नवीन मानवता के उपादान

(अ) मानवी सत्य की समग्रता की प्रतिष्ठा

(i) शरीर : लोक-जीवन की भौतिक सम्पन्नता

(ii) मन : पशु-वृत्तियों के स्थान पर मानवी गुणों की प्रतिष्ठा

(iii) अतिमन : असीम के स्पर्श द्वारा मानवी प्रवृत्तियों का उन्नयन—राग-भावना का परिष्कार

(आ) भूतवाद एवम् अध्यात्मवाद का समन्वय

(इ) विश्वमानवता की प्रतिष्ठा : विभाजित मानवता की संकीर्ण काराओं से मुक्ति

(ई) समाज और व्यक्ति के सन्तुलन पर आधारित समाजनीति

(उ) सत्य एवम् सदाचार पर आधारित राजनीति

(ऊ) त्याग एवम् सेवा पर आधारित अर्थनीति

(ए) हृदय को शिक्षित करने वाली शिक्षानीति

यही रूप रेखा पन्त-काव्य में आगे चल कर विकसित हुई है और इसमें रंग भरे गये हैं अनेक चिन्तकों और दार्शनिकों से ग्रहण किये गये उपयोगी जीवन-मूल्यों के। ये जीवन-मूल्य विवेकानन्द, दयानन्द सरस्वती, गाँधी, मार्क्स, अरविन्द तथा अन्य अनेक महापुरुषों से ग्रहण किये गये हैं। नवमानवता के अपने स्वप्न को समग्रता प्रदान करने की दृष्टि से कवि पन्त ने विविध विचारधाराओं से उपयोगी तत्व आकलित करने में कोताही नहीं की है। अनुपयोगी तत्वों का त्याग भी उसने बड़ी निर्ममता से किया है। यह ग्रहण और त्याग की प्रक्रिया भी वर्षों चली है और गृहीत तत्वों के निर्दोष संयोजन की पृष्ठभूमि में गहरा आत्म-मन्थन और विवेक रहा है। अन्यान्य चिन्ता-धाराओं से उपयोगी तत्व आकलित करना अपने आप में कोई बुरी बात नहीं है और न उसका कवि की मौलिकता से कोई विरोध है। कवि की मौलिकता तो उस दृष्टि-विशेष में होती है जो, उसे अन्यों को छोड़कर कुछ विशिष्ट प्रभावों को ग्रहण करने की प्रेरणा देती है। पन्तजी भी अपनी नवचेतना की दृष्टि के प्रकाश में संगत और उपयोगी तत्व आकलित करते चले गये हैं। हिन्दी के आलोचक पन्त जी पर पड़ने वाले प्रभावों तथा गृहीत तत्वों के पुञ्ज को ही देख सके, उस 'विज़न' को नहीं देख सके जो उनका चयन और आकलन कर रहा था। पन्त जी द्वारा 'वाणी' (1958 ई०) की 'नम्र अवज्ञा' कविता लिखे जाने का यही सन्दर्भ था :

वे कहते :
मैं भाव नहीं, केवल प्रभाव हूँ !
× × ×
वे कहते :
मैंने प्रकाश को ग्रहण किया
इससे उससे
जिससे····तिससे
किससे····किससे
× ×
अधिक क्या कहूँ ? सत्य गूढ़ !
पर सबसे भले विमूढ़ !

आलोचक उसे देखें या न देखें पर पन्तजी के काव्य की मूल चेतना की एकसूत्रता आरम्भ से अन्त तक अक्षुण्ण है। उस अविच्छिन्न काव्य-चेतना को प्रकृतिवाद, छायावाद, प्रगतिवाद, अरविन्दवाद आदि दिये गये नाम वस्तुतः पन्त जी की काव्य-चेतना के नहीं, आलोचकों की दृष्टि-सीमाओं के नाम हैं।

नवचेतना-काव्य का सम्यक् मूल्याङ्कन न हो पाने का दूसरा कारण रहा है हमारी समालोचना का मतवादी एवम् व्यक्तिनिष्ठ होना। सब जानते हैं कि किस प्रकार पाँचवें दशक में साम्यवादी विचार-धारा हमारी आलोचना पर बेतरह हावी हो गई थी और साहित्यकार के लिए साहित्येतर प्रतिबद्धताएँ निर्मित करने लगी थी। किसी समय पण्डे-पुरोहित जिस प्रकार स्वर्ग का लोभ तथा नरक का भय दिखा कर जनता को धार्मिक आचरण करने के लिए बाध्य करते थे उसी प्रकार ये 'कुत्सित समाजशास्त्री' आलोचक 'प्रगतिशील' और 'प्रतिक्रियावादी' के लेबल लगा कर काव्य की स्वच्छन्द धारा को एक निश्चित मार्ग पर प्रवाहित करने की असफल चेष्टा में प्रवृत्त हुए। निराला जी पर प्रगतिशील होने तथा पन्त जी पर प्रतिक्रियाशील होने का लेबल चिपकाया गया। हुआ यह इसलिए कि 'प्रगतिशील लेखक संघ' की नीतियों से सहमत न हो पाने के कारण पन्त जी उससे अलग हो गये थे और तब तथाकथित प्रगतिशील आलोचकों ने दल बाँध कर योजनाबद्ध रूप से 'निराला' को उठाने और 'पन्त' को गिराने का कार्य प्रारम्भ कर दिया था। पर न तो इस प्रकार कोई उठाया ही जा सकता है और न गिराया ही; न निराला उठे न पन्त गिरे। पर इस प्रक्रम में जो प्रचारात्मक आलोचना लिखी गई उससे पन्त जी के विरुद्ध एक प्रकार का वातावरण अवश्य बन गया जो उनके वस्तुनिष्ठ मूल्याङ्कन को बाधित करता रहा।

आगे चल कर तो प्रगतिशील कहलाने वाले आलोचकों ने पन्त-काव्य के सम्बन्ध में और भी घातक नीति अपनाई जिसे बच्चन जी ने 'मष्टमारू' नीति कहा है। कवि के कृतित्व के सम्बन्ध में अच्छा-बुरा कुछ भी न कहा जाय, उसके प्रति पूर्ण

उपेक्षा और उदासीनता बरती जाय तथा उस पर मण्ट मार कर बैठ रहा जाय—यही उनकी नीति रही। 'स्वर्णकिरण' और 'स्वर्णधूलि' की उन्होंने निन्दा और भर्त्सना की थी पर अब वह भी बन्द कर दी गई, यह सोच कर कि कभी कभी निन्दा भी प्रशंसा ही के समान नामकरी सिद्ध होती है। पन्त जी के स्थान पर कोई सामान्य प्रतिभा का कवि रहा होता तो निश्चित रूप से उपेक्षा के इस समुद्र में डूब जाता।

उपरिकथित नीति के अपवाद-स्वरूप श्री विश्वम्भर नाथ उपाध्याय का महाकाय ग्रन्थ 'पन्त जी का नूतन काव्य और दर्शन' (1956 ई०) यद्यपि प्रतिबद्ध प्रगतिवादी दृष्टि से हट कर विशुद्ध काव्यत्व की दृष्टि से पन्त-काव्य के मूल्याङ्कन का घोषित उद्देश्य लेकर सामने आया पर मतवाद के सङ्कीर्ण घेरे से न निकल सकने के कारण उसमें सर्वत्र प्रतिक्रियावाद और पलायनवाद ही की खोज करता रहा। वस्तुतः हिन्दी में अभी सुथरी समालोचना का अभाव है। मतवादी होने के अतिरिक्त वह व्यक्तिनिष्ठ भी है और मित्रता का दायित्व पूरा पूरा निभाती है। अच्छे अच्छे समीक्षक सोचते हैं कि मित्र आलोचक ही कृतित्व के प्रति न्याय कर सकते हैं।[1]

पन्त-काव्य के सम्यक् मूल्याङ्कन को बाधित करने वाला तीसरा कारण रहा है आलोचना-मानों की रूढ़ जड़ता। परिवर्तित युगबोध के साथ नव सृजन बहुत आगे बढ़ गया है और आलोचना काफी पिछड़ गई है। सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में सद्यः प्रकाशित साहित्य-कृतियों का समालोचन, जो कभी मात्र कथ्य के, कभी शिल्प, भाषा या अभिव्यञ्जना के आधार पर किया जा रहा है वह आलोचना-क्षेत्र की त्रासद रिक्तता का सूचक है। नयी कविता के सूत्रपात के समय से लेकर अब तक हमारी आलोचना एक प्रकार की तरलावस्था से ग्रस्त रही है। ऐसा नहीं है कि इस बीच उसे ठोस आधार प्रदान करने के प्रयत्न न हुए हों। 'अज्ञेय' ने अपने 'सप्तकों' की भूमिकाओं तथा नयी कविता पर बीकानेर में हुई त्रिदिवसीय साहित्य-गोष्ठी में वर्तमान कविता के मूल्याङ्कन हेतु एक व्यवहार्य काव्य-निकष विकसित करना चाहा पर वह आलोचकों द्वारा गृहीत न हुआ। 'कविता के नये प्रतिमान' प्रस्तुत करने का एक और इच्छित प्रयत्न डा० नामवरसिंह द्वारा हुआ पर लगता नहीं कि उसका भी रूपायन हुआ हो। आज का सर्जक साहित्यकार परम्परित साहित्य-मूल्यों में आस्था नहीं रखता। उसे इस बात से चिढ़ है कि उसके सृजन का सम्बन्ध किसी उद्देश्य अथवा प्रयोजन से जोड़ा जाय। कविता आज शुद्धता की दिशा में इतनी आगे बढ़ गई है कि वह मात्र फेन या झाग बन कर रह गई है।

आलोचना के सम्मुख आज सबसे बड़ा प्रश्न यही है कि वह इस फेनवाद को स्वीकार कर ले अथवा कोई नूतन-ठोस निकष विकसित करे। पहली स्थिति को

---

1. 'मेरा अनुमान है कि मित्रों की कमी के कारण पन्त जी को उचित प्रकार के समीक्षक अच्छी मात्रा में नहीं मिले हैं, जिसके कारण उनके काव्य का विवेचन कुछ एकाङ्गी हो गया है।' नन्ददुलारे वाजपेयी. श्री सुमित्रानन्दन पन्त : स्मृति-चित्र, पृ० 115।

स्वीकार करने का आशय उसके लिए आत्मघात करने जैसा है क्योंकि सब प्रकार के प्रयोजन से व्यतीत काव्य का मूल्याङ्कन असम्भव है। 'कला, कला के लिए' वाला नारा भी कोई न कोई प्रयोजन मानता ही है। पर आज की कविता तो उससे भी आगे बढ़ गई है—यहाँ तक कि उसमें प्रयुक्त शब्दों का कोई अर्थ निकले, यह भी आवश्यक नहीं माना जाता। मात्र नाड़ी-शिराओं को झंकृत कर देना ही उसके लिए पर्याप्त समझा जाता है। यदि इसे स्वीकार कर भी लिया जाय तो यह भी तो एक प्रयोजन हो गया। कविता का प्रयोजनातीत होना एक स्थूल अर्थ में ही बुद्धिगम्य है और साहित्य के इतिहास में एक अत्यल्प काल-खण्ड में ही इसका चलन हो सकता है। अन्तत तो उसे जीवन से सम्बद्ध होना ही पड़ता है। प्रश्न है कि व्यापक युगबोध के हमारे अपने युग में काव्य का, सृजन का क्या निकष हो ?

बीसवीं शती के दूरगामी वैज्ञानिक आविष्कारों, आवागमन के द्रुत साधनों तथा विश्वव्यापी राजनीतिक-आर्थिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं के संयुक्त प्रभाव के परिणाम-स्वरूप विश्व के विभिन्न राष्ट्र एक दूसरे के निकट सम्पर्क में आ गये हैं तथा उन राष्ट्रों के प्रबुद्ध लोगों की दृष्टि उन समस्याओं पर पड़ने लगी है जो सभी देशों के मनुष्यों की अर्थात् मानवता की समस्याएँ हैं। युग के सम्मुख जो सर्वप्रमुख समस्या है वह है मानवता की अस्तित्व-रक्षा की। यह रक्षा तब तक सम्भव नहीं है जब तक मानवता विभाजित है और विभाजन देश, जाति, वर्ण, धर्म, भाषा, संस्कृति आदि अनेक स्तरों पर है। इन कृत्रिम विभाजनों को विलीन करके ही विशुद्ध मानवता विकसित की जा सकती है और जब तक यह नहीं होता, मानवता पर विनाशक अणु-युद्ध की छाया मँडराती रहेगी।

मानवता के त्राण का यह कार्य केवल राजनयिकों या सत्ताधारियों का नहीं है। उनसे कहीं अधिक यह कार्य उन दार्शनिकों, कलाकारों और कवियों का है जो द्रष्टा कहलाने के अधिकारी हैं। मात्र आनन्द या रस की सृष्टि करना युग-कवि का अन्तिम लक्ष्य नहीं है न 'यशसे अर्थकृते' ही काव्य का अन्तिम प्रयोजन है। युग-कवि के लिये काव्य का एक गम्भीरतर प्रयोजन होता है और वह है अपने युग को दृष्टि देना। कवि केवल दृष्टि का दान कर सकता है, बाह्य परिस्थितियों में परिवर्तन नहीं ला सकता क्योंकि उसके पास सत्ता और शक्ति नहीं।[1] आज इसी दृष्टि-दान की

1. कवि होता सम्राट् न
वह सेना अधिनायक,
होता सित चित् रस पावक
जन भू उन्नायक
नहीं बदलता वह जीवन को
मात्र दृष्टि भर देता जन को।
—सुमित्रानन्दन पन्त, पौ फटने से पहले, प्रथम सं०, पृ० 84।

आवश्यकता है। अतः हमारे अपने युग में सभी प्रकार के कला-सृजन का लक्ष्य ऐसे मूल्यों की प्रतिष्ठा होनी चाहिए जो मानवता की विभाजक भित्तियों को ध्वस्त करने की दिशा में कार्यशील हो सकें। प्रान्त और देश के भीतर, जाति और धर्म के भीतर, भाषा और भूषा के भीतर जो विशुद्ध मनुष्य छिपा है, उसी का उद्घाटन समस्त सृजन का लक्ष्य होना चाहिये।

द्रुतगामी वैज्ञानिक आविष्कारों के इस युग में सम्पूर्ण जीवन की पीठिका बदल रही है और प्रतिष्ठित जीवन-मूल्य क्रमशः ध्वस्त होते जा रहे हैं। भारतीय साहित्यकारों का एक वर्ग ऐसा है जो ह्रास और विघटन के इस मलवे के नीचे दब गया है। चूँकि वह उस मलवे के अतिरिक्त और कुछ नहीं देख पाता, समझता है कि यही 'यथार्थ' है और इसी से मेरा सरोकार है। यही कारण है कि उसकी सृजन-चेतना आज अनास्था, निराशा, कुण्ठा, आत्म-दमन, आत्म-पीड़न और आत्म-पराजय के बियाबान में भटक गई है और मूल्यहीनता ही को मूल्य मान बैठी है। उपचेतन के स्वप्न-जाल में लिपटे हमारे सर्जक कलाकारों की दृष्टि अपने मानवी पात्रों को कर्दम में रेंगने वाले ध्वंस-रीढ़ क्षुद्र जीवों के रूप में देखती है। वह उनकी मनुष्यता को—आशा, आकांक्षा और दुर्दम जिजीविषा को—देख ही नहीं पाती। जिस मानव का वह चित्रण कर रही है, वह तो मानवता की किसी पूर्वप्राप्त उच्चतर स्थिति से नीचे के पशु-मूल्यों की ओर लुढ़कता हुआ प्राणी है। युगबोध के नाम पर जिस सत्य का चित्रण हो रहा है, वह पशु-सत्य हो सकता है; मनुष्य का सत्य तो नहीं है। मानवी सत्य तो पशु-मूल्यों को क्रम क्रम से छोड़ते जाने का नाम है और मानवता के वर्त्तमान धरातल से एक उच्चतर मानवी स्तर की दिशा में अग्रसर होने का प्रयत्न है। यथार्थ-चित्रण के अपने उत्साह में अनेक साहित्यकार मानवी चरित्र की इस गतिशीलता को देख नहीं पाते क्योंकि उनकी दृष्टि विकास-क्रम के एक अत्यल्प खण्ड पर ही केन्द्रित रहती है।

हमारे रचनाकारों का एक और वर्ग जो 'प्रगतिशील' पुकारे जाने पर परितोष प्राप्त करता है, मात्र बाह्य जीवन की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति से आगे नहीं जाता। उसकी कमज़ोरी मनुष्य के 'मन' और 'अतिमन' (आत्मा) की अवहेलना करने में है। शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति की दिशा में उत्पादन-वृद्धि तथा व्यवस्थित वितरण-पद्धति का उसका तर्क नितान्त संगत है, पर वह यह नहीं सोच पाता कि अन्न-वस्त्र की समस्या का सदा के लिए हल हो जाय, यदि अधुनातन वैज्ञानिक आविष्कारों का प्रयोग युद्धोपयोगी शस्त्रास्त्रों के निर्माण के लिये न होकर जीवनोपयोगी पदार्थों के उत्पादन के लिये होने लगे। आज का उन्नत विज्ञान समुचित दिशा में प्रवृत्त कर दिया जाय तो मानव-मात्र की प्राथमिक आवश्यकताएँ सहज ही पूर्ण हो सकती हैं, जन-संख्या में भले ही वृद्धि होती रहे। समस्या आज यह है कि मनुष्य अभी भीतर

व्यक्ति-स्वातंत्र्य : पृष्ठभर चिन्तन

प्रतिष्ठित जीवन-मूल्यों का आज जिस तत्परता एवम् त्वरा से ध्वंस हो रहा है उससे लगता है कि इतिहास फिर किसी नये मोड़ पर है। आज का व्यक्ति मूर्तिभंजक महमूद की भूमिका में, बड़ी निर्ममता से मूल्य-प्रतिमाओं को खंडित और भू-लुंठित करता जा रहा है। न जाने उसके भीतर कैसी आग है, कैसा तिक्त असंतोष और व्यापी विद्रोह है कि शाश्वत कही जाने वाली प्रतिमाओं को भी वह छोड़ता नहीं। पारिवारिक क्षेत्र से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र तक—सब कहीं उसे मूल्यों से अलर्जी हो गई है। पितृ-ऋण, गुरु-ऋण, देव-ऋण और समाज-ऋण जैसी चीजों में उसे आस्था नहीं रह गई है। पिता की कुछ आदतों को वह पसन्द नहीं करता और मन ही मन उस पर झींकता और कुढ़ता है। परिवार के मुखिया के रूप में वह जो उचित-अनुचित आदेश देता है या अकारण डाँट-फटकार बताता है उसके कारण वह उससे बुझी-बुझी नफ़रत भी करता है। व्यवहार में काम न आ सकने वाली, अव्याकृत कोटि की शिक्षा या अशिक्षा देने वाले अध्यापक-गुरु के छूछे उपदेश सुनकर वह मन ही मन कहता है—यह एक संयोग है कि तुम अध्यापक हो और मैं छात्र हूँ और कि इसका विपरीत भी हो सकता था। अपनी कक्षा की सर्वाधिक सुन्दर छात्रा पर उसे पिघलते देख, वह उसे गोली मार कर उसकी सुन्दर-युवा पत्नी को घर में डाल लेना चाहता है। देवताओं के ऋण-शोध के लिये यज्ञ-हवन करना तो दूर, द्वार के भिखारी को रोटी का टुकड़ा देने में भी उसे आय-कर चुकाने का-सा बोध होता है और चिड़ियाँ यदि चोंच-भर गेहूँ के दाने ले जायँ तो उसे वह कड़वे मिक्श्चर की भाँति नितान्त दीन भाव से घूंट लेता है। सामाजिक देय को तो वह यों नकारता है जैसे समाज से उसका कोई सम्बन्ध ही न हो।

इस व्यापक अश्रद्धा और दायित्वहीनता ने समग्र जीवन-स्थिति को द्रव-तरल बना दिया है और पाँव टिकाने लायक ठोस धरती कहीं दिखाई नहीं पड़ रही। क्या हम एक ऐसे युग में प्रवेश कर गये हैं जो मूल्यहीनता का युग है और जिसमें कुंठा,

निराशा, अनास्था, असंतोष, दिग्भ्रम, विध्वंस और निषेध जैसे ऋण तथ्यों का ही संभार है और अस्तिपरक मूल्यों का अत्यन्ताभाव है ? मेरे अपने विचार में, नितान्त मूल्यहीनता की स्थिति नितान्त अकल्पनीय है। इतिहास ऐसी एक भी स्थिति का साक्षी नहीं है और यदि ऐसी स्थिति आ जाय तो भयंकर अराजकता के मध्य, समाज ही नहीं, स्वयम् व्यक्ति का भी अस्तित्व संदिग्ध हो उठे। मूल्यों की ध्वंस-क्रिया से मूल्यहीनता की स्थिति का परिणाम निकालना वस्तुतः भ्रामक है। उलटे, उससे तो किसी मूल्य की स्थिति का ही अहसास होता है। बुतशिकन महमूद ने जब प्रतिमा-भंजन किया तो क्या वह किसी मूल्य से प्रेरित नहीं था ? निश्चय ही उसके ध्वंस-कार्य के पीछे मूल्य-चेतना थी। मूल्य सदा किसी न किसी आस्था से ही प्रवाहित होते हैं। इस्लाम के प्रति उसकी अटूट आस्था, उसकी गहरी निष्ठा से ही निराकारोपासना का वह मूल्य प्रवाहित हुआ था जिसके प्रकाश में बुतपरस्ती उसे कुफ़ दिखाई देती थी। इस प्रकार अपने ध्वंस-कार्य द्वारा वह एक पूर्व-निश्चित मूल्य को एक व्यापक क्षेत्र के बीच प्रतिष्ठित करना चाहता था। वस्तुतः प्रत्येक ध्वंस में निर्माण और प्रत्येक निषेध में विधि छिपी होती है।

हमारे अपने युग के प्रतिमा-भंजन की पृष्ठभूमि में भी, निश्चय ही, कोई न कोई मूल्य कार्य कर रहा है। यह अलग बात है कि सम्प्रति हम उस मूल्य को पहचान नहीं पा रहे हैं। उसकी रूप-रेखा अभी इतनी स्पष्टता से उभर कर सामने नहीं आई है कि तत्काल ही उसका नामकरण किया जा सके। ऐसा बहुधा होता है कि मलवे के ढेर के बीच में उठती हुई नीवें कुछ काल तक दिखाई नहीं पड़तीं, और जब तक वे दिखाई नहीं पड़तीं तब तक की अवधि को हम 'मूल्यहीनता का युग' या 'दिशाहीन शताब्दी' या ऐसे ही किसी अन्य नाम से पुकार बैठते हैं। ये नाम वस्तुतः ऐसी संज्ञाएँ हैं जिनकी आधारवस्तु का कोई अस्तित्व नहीं होता। अधिक से अधिक, ये मनुष्य की कालपरक दृष्टि-सीमा का ही द्योतन करती हैं; इससे अधिक अर्थ निकालने की चेष्टा उन्हें पूर्णतया निरर्थक बना देती है। आज के तथाकथित दिग्भ्रम, मतिभ्रम, हाहाकार और धुँआधार के बीच जिन नवीन मूल्यों का उदय हो रहा है वे इतने जटिल, सम्पृक्त, परस्पर इतने ग्रथित एवम् अनुस्यूत हो सकते हैं कि सहज-सरल शब्दों में उनका कथन अधीरता, अदूरदर्शिता या कि महज़ भोलापन हो सकता है। ऐसी स्थिति में बुद्धिमान वे हैं जो मौन का अवलम्बन लेकर सहज ही अपनी विवृत्ति (एक्स-पोज़र) से बच जाते हैं, या फिर वे, जो भारी-भरकम शब्दों का ऐसा वाग्जाल या व्यूह रचते हैं कि बारम्बार की शोध के बाद भी कथ्य के अभिमन्यु का पता नहीं चलता। महज़ लफ़्फ़ाज़ी ढाल बन कर उनकी रक्षा करती है।

क्षितिज पर आकार ग्रहण कर रहे नवीन मूल्यों में समता, मानवतावाद, व्यक्ति-स्वातंत्र्य, आस्तिकता, आध्यात्मिकता आदि प्रधान हैं। मूल्यों की हियरार्की में

इनमें से कौन कहाँ बैठेगा—यह इस पर निर्भर करेगा कि शीर्ष-मूल्य (समम् बोनम्) कौन बनता या बनाया जाता है। यहाँ इस बात की ओर संकेत कर देना अप्रासंगिक न होगा कि शीर्ष-मूल्य का निर्धारण न तो मात्र 'इतिहास के धक्के' से होता है और न केवल प्रबुद्ध जन की दृष्टि से। वस्तुतः प्रबुद्ध जन की संचेतना को परिस्थिति की जड़ता पर कार्य करना पड़ता है और दोनों की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया के परिणाम पर उसका चयन निर्भर रहता है। पर शीर्ष-मूल्य के एक बार निश्चित हो जाने पर शेष मूल्य स्वतः ही अपना स्थान पहचान लेते हैं। मेरा अपना अनुमान है कि 'व्यक्ति-स्वातंत्र्य' ही शीर्ष-मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित होगा या किया जायगा, उसका स्वरूप भले ही थोड़ा बहुत यहाँ-वहाँ, परिवर्त्तित हो। यह सत्य है कि व्यक्ति-स्वातंत्र्य कोई नवीन मूल्य नहीं है और कि इतिहास में अनेक बार इसे चरम-मूल्य के रूप में स्थापित करने की असफल चेष्टा हुई है; पर यह भी सत्य है कि प्रोटेगोरस के समय से लेकर आज तक जितनी बार इसने सिर उठाया, वह हर बार समष्टि के किसी न किसी रूप द्वारा कुचल भी दिया गया। मनुष्य का यह दुर्भाग्य रहा है कि समष्टि, उसकी इकाई पर, उसके व्यक्तित्व पर सदा हावी रही है। जातिवाद, प्रान्तीयता, भाषावाद, राष्ट्रवाद, पूँजीवाद और साम्यवाद के कल्पित देवता उसकी बलि लेते रहे हैं। आश्चर्य इसी बात का है कि व्यक्ति-स्वातंत्र्य का यह मूल्य, पौराणिक पक्षी 'फ़िनिक्स' की भाँति हर बार अपनी राख से, अपने ध्वंसावशेष से पुनः जी उठता है और समष्टि के नानाविध रूपों—समाज, प्रशासन, क़ानून, संविधान, धर्म आदि - से जूझने लगता है। जान पड़ता है, इस मूल्य का बीज मनुष्य के रक्त में है और यह रक्तबीज अपनी जिजीविषा में, अपनी प्राण-शक्ति में अत्यन्त उद्दाम और दुर्निवार है। शायद यह उस दिन तक जुझार बना रहेगा जब तक व्यक्ति असहाय, अकिंचन, बौना, मूक और पंगु बना रहेगा और विश्राम तभी लेगा जब व्यक्ति आत्म-नियन्ता बन कर अखण्ड स्वतन्त्रता का उपभोग करने लगेगा!

व्यक्ति ने समाज की रचना कुछ सुविधाओं के लिये की थी पर तब उसे क्या मालूम था कि किसी दिन यही समाज उसकी असुविधाओं का सबसे बड़ा कारण बन जायगा। आज के व्यक्ति की सबसे बड़ी पीड़ा उसकी सामाजिकता है। किसी देवता से वर-प्राप्ति का पौराणिक सुयोग मिल सके तो वह शायद किसी एकान्त द्वीप में अखण्ड स्वतन्त्रता का भोग करने वाला रॉबिन्सन क्रूसो बनना चाहे! यों क्रूसो कोई बहुत सुखी व्यक्ति न रहा होगा, उसकी भी अपनी पीड़ाएँ रही होंगी। पर कम से कम उन पीड़ाओं से वह मुक्त था जो आज के सामाजिक कहे जाने वाले व्यक्ति को लगातार घेरे रहती हैं। आज के व्यक्ति की स्वतन्त्रता केवल कहने भर को है जैसे रामानुज का 'विशिष्टाद्वैत' नाम-मात्र का ही 'अद्वैत' है। संविधान के कागज़ पर

आकर्षक प्रतीत होने वाली उसकी स्वतन्त्रता, व्यवहार-जगत् में आते-आते सेमर के फूल की भाँति रेशा-रेशा होकर उड़ जाती है। पहली तारीख़ को नौकरी-पेशा आदमी की भारी-हो-गई जेब, भरी होकर भी व्यवहारतः खाली ही रहती है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की घोषणा करने वाला संविधान का वही कागज़, व्यक्ति पर एक के बाद एक—इतने प्रतिबन्ध लगा चलता है कि नुचते-नुचते वह अन्त में न-कुछ रह जाती है। इसे कहते हैं एक हाथ से देकर दूसरे से ले लेना। भारतीय संविधान के प्रणेताओं की किसी समय में बड़ी प्रशंसा हुई थी, बड़े फ़ोटो छपे थे। तब कुछ समझ में आया नहीं था पर आज जब उनका जादू सर पर चढ़कर बोल रहा है, उनके आगे नतमस्तक हुए बिना नहीं रहा जाता।

समष्टि-रूपों की बहुलता, भौतिक पदार्थों के अभाव तथा जनसंख्या के स्फोट के परिणामस्वरूप व्यक्ति की स्वतन्त्रता का वृत्त धीरे-धीरे सिमटता चला गया है तथापि प्रत्येक व्यक्ति अपने चतुर्दिक्, एक दीर्घतर त्रिज्या से अपेक्षाकृत एक बृहत् वृत्त खींचने की दिशा में प्रयत्नशील रहा है। परिणामस्वरूप व्यक्ति-स्वातंत्र्य के इन वृत्तों की परिधियाँ एक दूसरी को काटने लगी हैं और अपने ही वृत्त में मारा गया घूँसा किसी दूसरे की नाक पर जा लगता है या कम से कम, बद्धमुष्टि, बद्धमुष्टियों से टकरा जाती है। बद्धमुष्टियों की यह टकराहट, पारिवारिक क्षेत्र से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र तक समान रूप से दिखाई पड़ती है। वियतनाम का युद्ध ऐसी ही एक टकराहट है। कहा जाता है कि यह युद्ध, दो परस्पर-विरोधी मूल्यों का युद्ध है। जान पड़ता है कि युद्ध-रत मूल्यों का स्वरूप-विश्लेषण पर्याप्त सजगता से नहीं हो रहा। अमरीका, अपनी दृष्टि में व्यक्ति-स्वातंत्र्य का, पर चीन की दृष्टि में आर्थिक साम्राज्यवाद का प्रतिनिधि है। दूसरी ओर चीन, निज की दृष्टि में साम्यवाद (आर्थिक शोषण से मुक्ति) का, पर अमरीका की दृष्टि में सर्वसत्तावाद का प्रतिनिधित्व करता है। किन्तु इन दोनों की स्वयम् के प्रति धारणा तो आत्मश्लाघा एवं छद्म से पीड़ित है तथा दूसरे के प्रति धारणा द्वेष एवम् लांछन से। पहली उनका कवच है, दूसरी उनका शस्त्र। इन धारणाओं में जितना अंश सत्य का है, उससे कम असत्य का नहीं। जहाँ तक चीन का प्रश्न है, सब जानते हैं कि विश्व में साम्यवाद की प्रतिष्ठा का उसका नारा एक ढोंग है क्योंकि अभी तो स्वयम् चीन में भी उसकी स्थापना हो नहीं सकी है—भले ही अपनी सेना को उसने 'मुक्ति-सेना' कहना प्रारम्भ कर दिया हो। साम्य-वाद की स्थिति तक पहुँचने के लिये साधन-रूप में अपनाया गया 'सर्वहारा का अधिनायकवाद' वहाँ साध्य बन कर छा चुका है और माओ-त्से-तुंग की पूजा एक देवता की ही भाँति होने लगी है। उसके उद्धरणों की लाल पुस्तिका धर्मग्रन्थ बनती जा रही है और हजारों हज़ार व्यक्ति इस नये धर्म में दीक्षित हो गौरव का अनुभव करने

लगे हैं। तिब्बत में तोड़ी जा रही बुद्ध की विशाल प्रतिमाएँ और चीन में उठाये जा रहे माओ के विशाल चित्र, ल्हासा में बौद्ध ग्रन्थों की जलाई जा रही होली और पीकिंग में अपार भीड़ के ऊपर लहराता हुआ लाल पुस्तिकाओं का वसन्त उस अन्तर्विरोध का सूचक है जिसमें चीन का तथाकथित साम्यवादी प्रशासन बुरी तरह उलझ गया है। धर्म को अफ़ीम कह कर कोसने वाला माओ शायद जानता है कि इससे ज़्यादा कारगर कोई चीज़ नहीं। माओ-विरोधी तत्वों की सक्रियता, वहाँ के अधिनायकवाद में पड़ने वाली दरार का संकेत बन कर आई पर नृशंसता-पूर्वक कुचल दी गई। यदि वह सफल भी हो जाती तो भी संभव था कि यह सम्पूर्ण यात्रा अधिनायकवाद से अधिनायकवाद तक की यात्रा ही रह जाती! इसे इतिहास की एक विडम्बना ही समझना चाहिये कि सर्वसत्तावादी एवम् अधिनायकवादी राज्य का विचार एक ऐसे राजनीति-चेता के लेखन से उद्भूत हुआ जो फ्रांस की राज्य-क्रान्ति का जनक एवम् व्यक्ति स्वातन्त्र्य का पूर्ण पक्षधर था। कौन जानता था कि व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की महती प्रेरणा से जन्म लेने वाली एक व्यापी जन-क्रान्ति का ऐसा करुण अवसान होगा!

उधर अमरीकी व्यक्ति-स्वातन्त्र्य भी, वहाँ की पूँजीवादी व्यवस्था एवम् आर्थिक उपनिवेशवाद को ऊपर से पहनाया गया लबादा है जिसके नीचे राष्ट्रीयता के संकुचित स्वार्थ साँस ले रहे हैं। वणिक्-वृत्ति पर पलने वाले तथा अनवरत शोषण का चक्र च वाले पूँजीवाद के मुँह से व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का उल्लेख वैसा ही लगता है जैसा शैतान के मुँह से नीति का प्रवचन। यदि 'कथनी' ही 'करनी' होती तो वहाँ के नीग्रो वासियों को नागरिक अधिकार कब के मिल चुके होते! पर हाथी के 'खाने के दाँत' दूसरे ही होते हैं। आर्थिक सहायता देकर राजनीतिक लाभ उठाना, अतिरिक्त शस्त्रास्त्रों की खपत के लिये पिछड़े राष्ट्रों के मध्य युद्ध का आयोजन कर कृत्रिम बाज़ार बनाना तथा राष्ट्रीय हितों के सूक्ष्म उतार-चढ़ाव के साथ अन्न की 'पाइप-लाइन' का खोलना और बन्द करना उस रीति-नीति के अंग हैं जिसके लिये 'घोर राष्ट्रीयता' के अतिरिक्त कोई संज्ञा नहीं। अपनी ही जनता की इच्छा के विरुद्ध चलाये जा रहे वियतनामी युद्ध में अनिच्छा-पूर्वक लड़ रहे अपने ही सैनिकों की बलि लेता हुआ अमरीकी पूँजीवाद यदि व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की दुहाई दे, तो कहने को रह ही क्या जाता है! इस प्रकार वियतनाम के युद्ध में, अपनी ही असंगतियों में उलझी दो ऐसी राष्ट्रवादी विचार-धाराएँ संघर्ष-रत हैं जिनमें से कोई भी आज की त्रस्त मानवता को उपयोगी मूल्य नहीं दे सकती। दोनों ही राज्यों में समष्टि को, इकाइयों के योग से पृथक् एक स्वतन्त्र अस्तित्व मिला रहने के कारण, व्यक्ति का दर्जा गिरा हुआ है और वह एक कल्पित देवता का पुजारी बनाया जाकर अप्रतिष्ठित कर दिया गया है। इस पराजित व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को अब कुछ नवीन रूप लेकर उठना होगा।

व्यक्ति-स्वातन्त्र्य पर लगे तीन-चौथाई से अधिक प्रतिबन्धों की परिसमाप्ति हो जाय यदि राजनीतिक क्षेत्र में विश्व-राज्य की स्थापना, आर्थिक क्षेत्र में पूँजी का समाजीकरण तथा सामाजिक क्षेत्र में समता की प्रतिष्ठा हो सके। इन तीन बिन्दुओं से बनने वाले त्रिकोण का आधार, उदार नवमानवतावाद ही हो सकता है, धर्म का कोई रूढ़ रूप नहीं। यदि यह नवीन तंत्र, हमारे वर्त्तमान दोषपूर्ण ढाँचे का स्थानापन्न होकर आ सके तो जन-मानस में सो-गई आस्था करवट लेकर उठ बैठे और आस्था की जागृति, नये सिरे से दायित्व-बोध कराने लगे। पर जैसा कि लग रहा है, कार्य बहुत कठिन है, विशेषकर इसलिये कि सार्थकता, तीनों बिन्दुओं की एक साथ अवतारणा में है; किसी एक की भी अल्पकालिक उपेक्षा, सम्पूर्ण प्रयत्न को निरर्थक बना सकती है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के विभिन्न पहलू (खण्ड नहीं) परस्पर इतने सूक्ष्म सम्बन्ध-सूत्रों से ग्रथित हैं कि किसी भी पहलू पर किया गया अतिरिक्त बलाघात अन्य पहलुओं पर तीव्र प्रतिक्रियायें उत्पन्न कर देता है और संतुलन बिगड़ते देर नहीं लगती। विश्व-राज्य के स्थापक विश्व-मानव का उन प्रबुद्ध मनीषियों के मस्तिष्क में जन्म हो चुका है जो गत दो दशकों से इस संभावना की दिशा में गंभीरता-पूर्वक विचार करते रहे हैं और जिनका अनुमान है कि पृथ्वी की मानव जाति अब अधिक दिनों तक भौगोलिक सीमा-रेखाओं में बँटी न रहेगी। इस बिन्दु के आकार ग्रहण करने पर, राष्ट्रों के मध्य होने वाले युद्धों का अंत हो जायगा, शस्त्रास्त्रों की होड़ बन्द हो जायगी, और सेनाओं पर व्यय होने वाले अपार द्रव्य की बचत होगी। युद्धकालिक आपात प्रतिबन्धों से मुक्ति मिलेगी, वैज्ञानिक आविष्कार मानव-हित के लिये प्रयुक्त होंगे और 'वादों' के अनेक देवता धराशायी हो जायेंगे। पर डेमोक्लीज़ की तलवार की तरह लटक-रहा तृतीय विश्व-युद्ध पहले टूटता है अथवा विश्व-राज्य की स्थापना पहले होती है—यह इस पर निर्भर करेगा कि आज के समर्थ राज्य-पुरुषों के मन में युद्धोन्माद की विजय होती है या कि सद्‌बुद्धि की। दार्शनिक और चिन्तक तो उनकी सद्‌बुद्धि को मात्र प्रेरित कर सकते हैं। त्रिकोण के शेष दोनों बिन्दुओं का आकार ग्रहण करना उतना कठिन नहीं है क्योंकि अतीत में ऐसा हो चुका है। पर मूल कठिनाई, जैसा कि कहा जा चुका है, तीनों बिन्दुओं के हमवक्त होने में है।

व्यक्ति-स्वातंत्र्य की चरम-मूल्य के रूप में प्रतिष्ठा, सामाजिकता का बहिष्कार नहीं है; उल्टे, सामाजिकता के संदर्भ में ही उसकी चर्चा सार्थक बनती है। समाज से कट कर, सागरीय द्वीप की भाँति अस्तित्व बनाये रखना स्वतन्त्रता का नहीं, पलायन-वृत्ति का भोग है; 'कछुआ धरम' है। स्वतन्त्रता की माँग तो समाज में रहते हुए की जाने वाली स्वत्वों की माँग है। यह ठीक है कि 'समाज' नाम की संस्था से ढेर-सी सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए उसका अंग बने रहने की दिशा में, व्यक्ति को अपनी स्वतन्त्रता का कुछ न कुछ अंश उसे देना ही पड़ता है पर इस अंश की मात्रा इतनी-

भर होनी चाहिए कि समाज विघटित होने से बचा रहे; यह नहीं कि ऊँट, अरब को ही तम्बू से बाहर कर दे !

किन्तु आज समष्टि-रूपों ने व्यक्ति को, धोबी के बौने बैल की भाँति दायित्व-भार से लाद कर छिलके-भर सुविधा दे रखी है—वह भी इसलिए कि वह टूटने से बचा रहे। पर व्यक्ति कभी नहीं टूटता। टूटना और जुड़ना शायद समष्टि-रूपों के ही भाग्य में होता है। अस्तित्ववादियों की दायित्वहीनता एवम् अतिवैयक्तिकता तथा बीटनिकों की निरुद्देश्यता टूटे-हुए व्यक्तियों का दर्शन नहीं, आने वाले किसी भूकम्प की पूर्वसूचक लहर है जिसकी उपेक्षा समष्टि-रूपों के ध्वंस को शायद और भी निकट ले आये।

खण्ड 'ब'

1

रवीन्द्र के काव्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि

सीधे-सादे शब्दों में 'दर्शन', द्रष्टा का वह मूलभूत दृष्टिकोण है जिसके द्वारा वह विश्व के पदार्थों और घटनाओं का मूल्यांकन करता है। इस परिभाषा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति दार्शनिक कहा जा सकता है। यह अलग बात है कि उसका स्तर उच्च अथवा निम्न है या कि वह अन्तर्विरोधों से युक्त अथवा मुक्त है। पर जब दर्शन शब्द का व्यवहार चार्वाक-दर्शन, बौद्ध-दर्शन, न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, मीमांसा-वेदान्त, हीगेल, काण्ट, स्पिनोज़ा और मार्क्स-दर्शन के संकुचित अर्थ में किया जाता है तब उसका विशिष्ट अर्थ उस चिन्तन-पद्धति से है जो ईश्वर, आत्मा, जगत्, प्रकृति, माया, बन्धन, मोक्ष, मृत्यु और पुनर्जन्म के शाश्वत और अन्तिम सत्यों के अन्वेषण में संलग्न है।

प्रश्न है कि काव्य में दर्शन का समावेश कहाँ तक समीचीन है? यदि हम दर्शन की ऊपर दी गई प्रथम परिभाषा के अनुसार विचार करें तो इस निष्कर्ष पर पहुँचे बिना नहीं रह सकेंगे कि काव्य में दर्शन का प्रवेश समीचीन ही नहीं अपितु अनिवार्य है। इस दृष्टि से प्रत्येक काव्य को हम एक दर्शन-ग्रन्थ भी कह सकते हैं। द्वितीय परिभाषा के अनुसार विचार किया जाय तो मानना पड़ेगा कि काव्य–काव्य है और दर्शन दर्शन। इन दो भिन्न संज्ञाओं की मर्यादा हमें अखण्ड रखनी होगी अन्यथा वे मूक वाणी में अपने प्रति किये गये अत्याचार के लिये उलाहना देंगी। फिर भी काव्य और दर्शन का अन्तिम उद्देश्य एक ही है—सत्य की खोज। सत्य की खोज के लिए दर्शन तर्क का माध्यम ग्रहण करता है और काव्य भावना का। अतः केवल मार्ग की भिन्नता के कारण काव्य और दर्शन को पूर्णतया पृथक् मान बैठना या एक दूसरे को सर्वांश में विरोधी समझ लेना कहाँ तक उपयुक्त है, यह विद्वज्जनों के लिए विचारणीय है। मेरी अपनी मान्यता है कि यदि किसी कवि के काव्य में अन्तिम सत्यों के अन्वेषण की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है, फिर वह चाहे प्रत्यक्ष है अथवा परोक्ष, तो उस काव्य को दर्शन चाहे न कहें, उसमें दार्शनिकता मान लेने में कोई संकोच न होना चाहिए।

मेरा यह आग्रह कदापि नहीं है कि रवीन्द्र के काव्य में कोई निश्चित, व्यवस्थित और बँधी-बँधाई दार्शनिक परम्परा ढूँढ़ी जाय क्योंकि रवीन्द्र कवि पहले हैं, बाद में कुछ और। सन् 1939 में अपनी 70 वीं वर्षगाँठ पर दिये गये अपने भाषण में वे कहते हैं—"मैं कवि हूँ, मैं और कुछ भी नहीं हूँ। न तो मैं दार्शनिक ही हूँ और न नेता।' रवीन्द्र का यह आत्म-कथन शायद इसीलिए है कि कहीं कोई आलोचक उन्हें दार्शनिक मानकर उनकी दार्शनिकता का तर्क की कसौटी पर महत्त्व आँकने न बैठ जाय और शुद्ध-दर्शन का अभाव पाकर उसका उपहास करने लगे। दार्शनिकता शब्द दर्शन से भिन्न अर्थ का सूचक है। वस्तुतः रवीन्द्र का दृष्टिकोण अध्यात्मवादी है और इसी दृष्टिकोण से उन्होंने जगत् को देखा और परखा है। रवीन्द्र की दार्शनिकता से यही अभिप्राय है। प्रस्तुत दृष्टिकोण से देखने और परखने की इस प्रक्रिया में स्थान-स्थान पर जीवन के शाश्वत प्रश्नों का उन्होंने उत्तर दे दिया है, फिर चाहे वह संकेत रूप में ही क्यों न हो। यह मानने में मुझे आपत्ति नहीं कि कहीं भी उन्होंने जम कर दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन नहीं किया, फिर भी जो संकेत उन्होंने दिये हैं उनके आधार पर उनकी दार्शनिक मान्यताओं का अच्छा खासा मानचित्र तैयार हो जाता है।

रवीन्द्र कलाकार थे और कलाकार अपनी कला पर कोई बन्धन स्वीकार नहीं करता। उसकी कल्पना मुक्त वातावरण में विहार करने वाले पक्षी की भाँति होती है। रवीन्द्र भी किसी दर्शन-विशेष से बँधे हुए न थे। यह भिन्न बात है कि अलग-अलग धर्मों और धार्मिक सिद्धान्तों ने उनके संस्कारों को प्रभावित किया और उनके व्यक्तित्व के निर्माण में योग दिया। कलाकार अपने युग से प्रभावित होता ही है। रवीन्द्र के जातीय संस्कार वैष्णव संस्कार थे जिनके पीछे उपनिषदों की ज्ञान-गरिमा थी। पारिवारिक क्षेत्र में उनके पूज्य पिता ईश्वर में दृढ़ आस्था रखने वाले चिन्तक थे जो बालक रवीन्द्र के मधुर स्वरों में गाये गये भजनों के संगीत में डूब कर रात-रात भर ईश्वर-चिन्तन में निमग्न बैठे रहते थे और जो 'महर्षि' की सम्मानपूर्ण उपाधि से याद किये जाते थे। कबीर-दादू आदि निर्गुण सन्तों की वाणी भी उन्होंने घूमते-फिरते गायकों से सुनी थी। कबीर के अनेक पदों का सर्वप्रथम रूपान्तर उन्हीं की लेखनी से अंग्रेजी पाठकों के लिये हुआ जिससे अनुमान होता है कि वे कबीर की स्पष्टवादिता तथा उनकी आध्यात्मिक अनुभूति से प्रभावित हुए होंगे या कम से कम उनकी अनुभूति और कबीर की अनुभूति में बहुत कुछ साम्य रहा होगा। यही वातावरण था जिसमें रवीन्द्र ने श्वास लिया और लक्ष्य-अलक्ष्य रूप में वे प्रभावित हुए। पर इन छोटे-छोटे उपकरणों के योग को ही रवीन्द्र मान बैठना कदाचित् एक बहुत बड़ी भूल होगी। इन सबके ऊपर और इन सबसे महान् व महत्त्वपूर्ण थी उनकी प्रतिभा जो संसार में बहुत विरल है। दर्पण या जल में प्रतिबिम्ब ग्रहण करने की जो शक्ति है, वह मिट्टी अथवा पत्थर में नहीं।

रवीन्द्र के दृष्टिकोण में जो बात सबसे पहले उभर कर सामने आती है, वह है उनकी आध्यात्मिकता। वे ईश्वरवादी हैं और उनका ईश्वर निर्गुण निराकार ब्रह्म होते हुए भी सृष्टि के कण कण में अपनी आभा की झलक देता है। आकाश-मण्डल में अगणित तारागण जिस अदृश्य विराट् की इच्छा के सूत्र में बँधे अपनी-अपनी कक्षा में अविराम भ्रमण करते रहते हैं उसके दर्शन रवीन्द्र ने एक चिड़िया की चिहुँक की पृष्ठभूमि में छिपी उल्लास की हल्की-सी लहर में भी किये हैं और निर्जीव पत्थर के टुकड़ों में भी। इस प्रवृत्ति को हम आधुनिक शब्दावली में 'रहस्यवाद' के नाम से पुकारते हैं। रहस्यवाद वैसे कोई नवीन वस्तु नहीं है, इसकी धारा उपनिषद्-काल से सतत प्रवहमान है। मध्ययुग में सूफी कवियों और अत्तार, सादी, जलालुद्दीन रूमी और हाफिज़ जैसे महान् फारसी के रहस्यवादी कवियों ने उसे और भी विस्तार दे दिया। रहस्यवाद की यह धारा कबीर आदि को आप्लावित करती हुई समृद्ध विरासत के रूप में रवीन्द्र को प्राप्त हुई। यह रहस्यवाद और कुछ नहीं, भावना से समन्वित वेदान्त का अद्वैतवाद है जो आत्मा-परमात्मा की एकता का उद्घोषक है। रवीन्द्र ने अपनी एक कविता में इस अद्वैत स्थिति का बड़ा ही भावमय चित्र उपस्थित किया है—

> आजिमग्न हयेछिनु ब्रह्मांड माझारे
> जखन मेलिनु आँखि हेरिनु आमारे।
> धरणीर वस्त्रांचल देखि लाम तुलि
> आमार नाड़ीर कम्पे कम्पमान धूलि
> अनन्त आकाशतले देखि लाम नामि
> आलोक दोलाय बसि दुलितेछि आमि।
> आज गिये छिनु चलि मृत्यु पर पारे
> सेथा वृद्ध पुरातन हेरिलि आमारे।
> अविच्छिन्न आपनारे निरखि भुवने
> सिहरि उठिनु काँपि आपनार मने
> जले स्थले शून्ये आमि जतदूर चाइ
> आपनारे हारावार नाई कोनो ठाई
> जले स्थले दूर करि ब्रह्म अन्तर्यामी
> हेरि लाम तार माँझे स्पन्दमान आमि।

आज ब्रह्मांड में मग्न होकर जब मैंने आँखें खोलीं तो अपने आपको देखा। मैंने पृथ्वी के वस्त्र को हटाया तो देखा कि मेरी नाड़ी के कम्पन से धूल काँप रही थी। मैंने अनन्त आकाश में उतर कर देखा कि मैं ही प्रकाश के झूले में बैठा हुआ झूल रहा हूँ। आज मैं मृत्यु के दूसरे किनारे जा पहुँचा जहाँ पर मुझे वृद्ध पुरातन ने

देखा। समस्त जगत् में अपने आप को अविच्छिन्न भाव से देखा तो मैं मन में डरकर काँप उठा। जल, स्थल, आकाश में जहाँ तक दृष्टि जाती है, स्वयं को खो देने का कोई स्थान नहीं है। अन्तर्यामी ब्रह्म ने जल-स्थल की विभेदक दृष्टि दूर कर दी और मैंने उसी के भीतर अपने आपको स्पन्दित होते देखा।

प्रकृति और जड़ जगत् के प्रति भी रवीन्द्र की वही आध्यात्मिकता दिखाई पड़ती है। वेदान्त में प्रकृति को माया अर्थात् ईश्वर के स्वरूप को आच्छादित करने वाली उसी की शक्ति माना गया है। यह आत्मा को परमात्मा से पृथक् करने वाली दीवार के रूप में चित्रित होकर निन्दा का पात्र बन गई है। पर रवीन्द्र के लिये प्रकृति ईश्वर-प्राप्ति में बाधक न होकर साधक ही सिद्ध हुई है। दार्शनिकों ने माया के दो रूप माने हैं–अविद्या–माया और विद्या-माया। अविद्या-माया ब्रह्म की वह शक्ति है जो जीवात्मा को अज्ञान की ओर प्रेरित करती है। विद्या-माया वह शक्ति है जो ब्रह्म का ज्ञान कराने में सहायक सिद्ध होती है। पुष्टिमार्ग द्वारा प्रस्तुत माया के इस वर्गीकरण को मान लिया जाय तो हम कह सकते हैं कि रवीन्द्र ने प्रकृति को विद्या-माया के रूप में देखा है। प्रकृति के संगीत को सुनते-सुनते मनुष्य का हृदय विशालता और व्यापकता ग्रहण करता है। होते-होते अन्त में विश्वात्मा का साक्षात्कार करता है। रवीन्द्र सम्पूर्ण ब्रह्मांड में एक अतीन्द्रिय संगीत का स्वर सुनते हैं जिसे कबीर ने 'अनहद नाद' की संज्ञा दी है। 'बंग दर्शन' पुस्तक के 2 दिसम्बर, 1892 के पत्र में वे लिखते हैं —

> ध्यान के तनिक केन्द्रित करने से ही हम स्वयं प्रकाश और रंग के सामंजस्य को, जो विश्व को संगीत में बदल देता है, अनुभव कर सकते हैं। हमें केवल अपने नेत्र बन्द कर इस सतत प्रवहमान संगीत के स्वर को मानस की श्रुतियों से ग्रहण भर करना है।

यह 'अनहद नाद' अपने ससीम रूप में प्रत्येक व्यक्ति के घट के भीतर भी प्रतिध्वनित है। कबीर ने शरीर को वीणा, इन्द्रियों को तार और आत्मा को वीणा-वादक माना है :

> 'कबिरा जंत्र न बाजई, टूटि गये सब तार।
> जन्त्र बिचारा क्या करे, चला बजावन हार।'

कबीर के इस दोहे की तुलना रवीन्द्र की निम्न पंक्तियों से कीजिए। दिव्य संगीत की स्वर-लहरी में डूबे रवीन्द्र जैसे आत्म-विभोर होकर अपने 28 मार्च 1894 के पत्र में लिखते हैं—'मैं स्वयं को उस जीते-जागते पियानो के रूप में अनुभव

करता हूँ जिसमें भीतर ही भीतर तारों और मशीनों की जटिलता है पर मैं नहीं बता सकता कि बजाने वाला कौन है, और कि वह बजाता ही क्यों है ?'

प्रकृति को रवीन्द्र ने जीवन-सहचरी के रूप में नहीं, अपितु स्नेह, ममता और वात्सल्यमयी माता के रूप में देखा है, जिसका स्तन-पान कर, जिसकी गोद में खेल कर मानव बड़ा होता है, जो अपने संगीत की लोरी सुना कर, ज्वर-पीड़ित मानव-शिशु को थपक-थपक कर सुलाती है। लिखते हैं—

'Fret not' she sings as she soothingly pats its fevered forehead, 'Worry not, weep no more. Forget a while, sleep a while.'

रवीन्द्र की इस रहस्यात्मक अनुभूति की तुलना हिन्दी की रहस्यवादी गायिका महादेवी वर्मा के एक गीत की पंक्तियों से कीजिए और देखिए कि रहस्यानुभूति का कैसा विचित्र साम्य है —

'इन स्निग्ध लटों से छा दे तन
पुलकित अंकों में भर विशाल
झुक सस्मित शीतल चुम्बन से
अंकित कर इसका मृदुल भाल
दुलरा दे ना, बहला दे ना,
यह तेरा शिशु जग है उदास।'

रवीन्द्र के काव्य में प्रकृति और मनुष्य एक-सूत्र में आबद्ध हैं। यह रवीन्द्र के काव्य की एक बहुत बड़ी विशेषता है। मानवी भावनाओं का प्रकृति पर और प्रकृति की भावनाओं का मानव पर रंग चढ़ा हुआ दिखाई देता है। प्रकृति और मनुष्य परस्पर की भावनाओं को प्रतिबिम्बित करते प्रतीत होते हैं। मानव-हृदय के सुख-दुख का ताना-बाना बुनते हुए रवीन्द्र ने प्रकृति के सहस्रों 'प्रतिपल परिवर्तित' होते हुए वेश दिखाये हैं। दिवस, रात्रि, भोर, सन्ध्या और ऋतु-चक्र की शायद ही कोई भाव-भंगी होगी जिसका उल्लेख विश्व-कवि के काव्य में न हुआ हो। केवल पावस के बदलते रूप का ही उन्होंने शतशः गीतों में वर्णन किया है। रवीन्द्र की दृष्टि में ईश्वर को प्राप्त करने का एक मात्र साधन प्रेम है। कहीं-कहीं तो उन्होंने प्रेम को ईश्वर का ही रूप मान लिया है। प्रेम से उनका तात्पर्य नायक-नायिका के प्रेम से कम है, मानव के प्रति प्रेम से अधिक है। सूफी कवि और निर्गुण सन्त-मत के कवियों ने उसे पण्डित माना है जिसने प्रेम के ढाई अक्षर भली प्रकार पढ़ लिए हैं पर रवीन्द्र के मत में पण्डित वह है जिसने मानव मात्र से प्रेम करना सीख लिया

है। मनुष्य ही रवीन्द्र की कला का केन्द्र-बिन्दु है। जर्मन दार्शनिक काण्ट की भाँति वे मनुष्य को किसी अन्य वस्तु का साधन नहीं, अपने आप में एक साध्य-बिन्दु मानते हैं। हीगेल और मार्क्स की भाँति वह मानते हैं कि मनुष्य सब वस्तुओं की कसौटी है। इसलिए सर्वोदय या मानव-मात्र का हित उनके अन्तर्तम की इच्छा रही है। यहाँ तक कि देश-भक्ति की उनकी कविताएँ भी संकुचित एकदेशीय विचारधारा वाली नहीं हैं। 'प्रवासी' कविता में उन्होंने कहा है कि सभी जगह मेरा घर है और संसार के सभी हिस्सों में मेरा देश है। समग्र मानव जाति के प्रति एकात्म-बोध का यह भाव ही हमारे राष्ट्रीय गान 'जन-गण-मन अधिनायक' का प्राण-वायु है। मानव से प्रेम रवीन्द्र के लिए कोई प्रगतिशील विचार नहीं,यह उनका धर्म है।

मानव-मानव में वे किसी प्रकार का भेद नहीं मानते थे। जीविका-निर्वाह के लिए अपनाई गई वृत्ति के आधार पर किसी को छोटा और किसी को बड़ा मानने को वे कदापि तैयार नहीं थे। उनके इस दृष्टिकोण के लिए बहुत पहले ही रामानन्द और कबीर, काण्ट और हीगेल ने भूमि तैयार कर दी थी। 'जाति न पूछो साधु की' कह कर सन्त कबीर ने जात-पाँत की विभेदक नीति की व्यर्थता सिद्ध कर दी थी। मानव मानव की समानता प्रकट करते हुए रवीन्द्र ने श्रम की भी गौरवमय प्रतिष्ठा की। श्रम के पसीने को उन्होंने वास्तविक भक्ति के रूप में देखा। गीताञ्जलि का एक गीत इस प्रकार है—

> 'इस भजन, पूजा और जप को त्याग दे। सब द्वारों को बन्द करके मन्दिर के एकान्त अँधेरे कमरे में तू किसकी पूजा करता है? आँख खोलकर देख, तेरा प्रभु तेरे सम्मुख नही है।'
>
> 'वह तो कठिन भूमि में हल चलाते हुए किसान और पत्थर तोड़ते हुए सड़क बनाने वाले श्रमिक के साथ है उसके वस्त्र धूल से भर गए हैं। धूप और वर्षा की भी उसे चिन्ता नहीं है। तू अपने पवित्र वस्त्रों को उतार डाल और उसी की भाँति धूलभरी धरती पर उतर आ।'

रवीन्द्र संसार को त्याग कर भक्ति करने में विश्वास नहीं करते। अपने दैनिक जीवन के लघु-महत्त्व वाले कार्यों को करते हुए जो भक्ति की जाती है, वही उनकी दृष्टि में वास्तविक भक्ति है। कबीर ने जुलाहे का कार्य करते हुए अपने भावपूर्ण गीतों की रचना की, पॉल तम्बू सीते हुए अपने भक्ति-मार्ग को पवित्र कर गए, बोहमी जूते गाँठते रहे, रैदास चमार का काम करते रहे और बनयान जीवन भर ठठेरे का कार्य करते रहे। पर जो भाव-विह्वल अनुभूति इनके पदों में उपलब्ध है वह किसी त्यागी सन्यासी की आध्यात्मिक अनुभूति से गहराई में कम नहीं। रवीन्द्र ने

बारम्बार कहा है कि जीवन के सहज साधारण सम्बन्धों में, जिन पर कि संसार टिका है, भगवान् को प्रत्यक्ष करना चाहिए। अपने एक पत्र में वे लिखते हैं— 'मनुष्य के छोटे-छोटे दैनिक कर्त्तव्यों को सरलता और स्वाभाविकता से करने की अपेक्षा कोई बड़ा और सुन्दर कार्य नहीं है। पृथ्वी की घास से लेकर आकाश के तारे तक सब यही कर रहे हैं। प्रकृति में गम्भीर शान्ति और अतुलनीय सुन्दरता इसलिए है कि इनमें से कोई भी अपनी मर्यादा भंग नहीं करता। घास व्यर्थ में बरगद का पेड़ बनने की आकांक्षा नहीं रखती इसलिए पृथ्वी पर हरा कालीन बिछ जाता है। इसी प्रकार मानव-समाज में जिस थोड़ी बहुत शान्ति और सौन्दर्य के दर्शन हो जाते हैं वह तुच्छ कार्यों के दैनिक प्रतिपादन से है न कि महान् प्रयत्नों और उनकी बड़ी बातें करने से। यही रवीन्द्र का धर्म है, धर्म अर्थात् मर्यादित रहते हुए कर्तव्य-पालन। यही मर्यादावाद और यही धर्म हमें तुलसी के रामचरित-मानस में देखने को मिलता है। पश्चिमी विचार-धारा से प्रभावित बीसवीं शताब्दी के विचारक इस मर्यादावाद को स्वतन्त्रता का शत्रु समझते हैं पर जिसे वह स्वतन्त्रता कहते हैं क्या वह उच्छृंखलता का नग्न रूप नहीं है जो किसी भी समय समाज के अस्तित्व को ललकार भरी चुनौती दे दे? कदाचित् इतना सोचने का उन्हें अवकाश भी नहीं है; पश्चिम के इसी दृष्टिकोण और उसकी स्थूल भौतिक संस्कृति से रवीन्द्र कभी-कभी आशंकित हो उठते हैं। पाश्चात्य संस्कृति को वे एक धातु-पात्र मानते हैं और भारतीय संस्कृति को एक मृत्तिका-पात्र। मृत्तिका पात्र की कुशल इसी में है कि वह अपने आपको धातु-पात्र से दूर ही रखे अन्यथा उसका अस्तित्व ही सन्दिग्ध हो उठेगा।

यद्यपि रवीन्द्र-काव्य पर अध्यात्म और रहस्यवाद का व्यापक प्रभाव है, फिर भी जीवन की जटिल वास्तविकताओं की ओर से उन्होंने आँख नहीं मूँदी है। जो रवीन्द्र को केवल पलायनवादी या स्वप्न-द्रष्टा ही समझते हैं वे वस्तुतः भ्रम में हैं। रवीन्द्र कला को कला के लिए न मान कर जीवन के लिए मानते थे। उन्होंने सौन्दर्य को ढूँढ़ा तो, पर जीवन की अभिव्यक्ति के रूप में ही। उनकी गीताञ्जलि ने युद्ध-जर्जर विश्व को प्रेम और शान्ति का सन्देश दिया। स्थूल जगत् की समस्याओं और युग के आर्थिक प्रश्नों पर भी उन्होंने विचार किया है, पर बहुत कम। एक स्थान पर वे लिखते हैं—

'मैं नहीं जानता कि धन के अधिक सम-वितरण का समाजवादी आदर्श प्राप्य है अथवा नहीं, पर यदि नहीं, तो भाग्य का वितरण निश्चय ही निर्दयतापूर्ण है और मनुष्य वास्तव में एक अभागा प्राणी है। वे लोग अत्यन्त कठोर हैं जो कहते हैं कि अन्न-वस्त्र की समस्या का हल होना केवल झूठा स्वप्न है। भाग्य ने मानवता को जो चादर दी है वह इतनी ओछी है कि सिर छिपाने पर पाँव और पाँव छिपाने पर सिर नंगा रह जाता है।'

पुनर्जन्म में कवि की गहरी आस्था है। जीवन को वह एक सरिता की भाँति मानते हैं जिसके उद्गम और समुद्र-तट-मिलन के दोनों छोरों पर दो रहस्य के बिन्दु हैं-- जन्म और मृत्यु। अन्यथा कवि पन्त के शब्दों में 'नौका-विहार' शाश्वत है। गीतांजलि के अनेक गीतों में उन्होंने आत्मा की अमरता का सन्देश दिया है। श्रीमद्भगवद् गीता का 'वासांसि जीर्णानि' वाला श्लोक यहाँ नवीन उपमान लेकर आया है। एक गीत द्रष्टव्य है—

> 'तुमने मुझे अविराम यात्री बनाया है। मेरे इस भंगुर पात्र को तुम बार बार रिक्त करते और प्रति बार पुनः नवजीवन-रस से परिपूर्ण कर देते हो।
>
> तुमने बाँस की इस छोटी सी वंशी को लेकर पहाड़ियों और घाटियों में नित्य नये संगीत ध्वनित किये हैं।
>
> मेरी क्षुद्र झोली में तुम अबाध गति से भेंट प्रदान करते हो। युग व्यतीत होते हैं। पर गति बन्द नहीं होती। झोली अब भी रिक्त है।'

जीवन और जगत् को रवीन्द्र ने ब्रह्मवादियों की भाँति कभी मिथ्या या असत्य नहीं माना-जीवन को वे एक रंगमंच मानते है जहाँ आत्मा अपने परमार्थ की साधना में, ईश्वर-दर्शन के परम पुरुषार्थ में प्रवृत्त होती है। अतः प्रकृति, संसार और जीवन रवीन्द्र के लिये उतने ही सत्य हैं जितने ब्रह्म और आत्मा स्वयं। वे कहते हैं—'इस लावण्यमय वसुन्धरा में मृत्यु के मौन में सो जाने की मेरी तनिक भी इच्छा नहीं है।' वस्तुतः रवीन्द्र जीवन को बन्धन न मानकर मृत्यु को बन्धन मानते हैं। यह सत्य है कि जीवन में दुख की अधिकता है और रवीन्द्र ने इसे स्वीकार भी किया, पर वे इतनी दूर कभी नहीं गये हैं कि बुद्ध के स्वर में स्वर मिला कर 'सर्वं दुःखम्' कहने लगें। उनकी अपनी धारणा है कि दुख को सुख के रूप में परिवर्तित किया जाना चाहिए और वह असम्भव भी नहीं है। इसलिये दुख से बचने की कामना लेकर मोक्ष-प्राप्ति के प्रयत्न को वे 'कछुआ धरम' समझते हैं। दुख से सुख की प्राप्ति वे किस प्रकार सम्भव मानते हैं, यह उनकी निम्न पक्तियों में देखिये—

सुख-प्राप्ति की इच्छा मनुष्य का एक स्वभाव है, उसका एक दूसरा स्वभाव यह भी है कि वह आत्म-बलिदान की इच्छा करता है। जब उसकी प्रथम इच्छा सन्तुष्ट नहीं होती तो द्वितीय शक्ति बटोरती है और इस प्रकार व्यापक क्षेत्र पाकर यह आत्मा को अपूर्व उत्साह से भर देती है। इस प्रकार जब कि हम क्षुद्र कष्टों के सम्मुख कायर बनते हैं, महान् दुःख हमारे पुरुषार्थ को जगाकर हमें वीर बनाते हैं और इसलिये इनमें एक आनन्द है।

रवीन्द्र मनुष्य का सबसे बड़ा कृतित्व इस बात में मानते हैं कि वह अपनी निजी व्यथा और संसार की विकराल वेदना पर विजय प्राप्त करे। 'विदाय अभिशाप' में कच जब देवयानी के शाप के बदले उसे वरदान देता है तो वह सचमुच में मनुष्य हो उठता है। 'कर्ण-कुन्ती संवाद' में स्नेह, आकांक्षा और भय के ऊपर मनुष्य के गौरव की विजय की बड़ी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। 'ए जीवने सुन्दर' और 'मधुमय पृथिवीर धूलि' में मृत्यु की घाटी की छाया में जीवन की विजय का भाव है।

मोक्ष के विषय में कवि का दृष्टिकोण पूर्णतया मौलिक और स्वतन्त्र है। भारतीय दर्शन की अधिकांश पद्धतियों में जिस मोक्ष को परम पुरुषार्थ माना गया है उसका परम्परागत अर्थ रहा है—आवागमन के चक्र से छुटकारा। जीव अपने संचित कर्मों का फल भोगने के लिये बार बार संसार में जन्म लेता है और चूँकि संसार में दुःखों की अधिकता है अतः बार बार जन्म लेने का अर्थ है, बार-बार दुःख का भोग। इस दुःख-भोग से त्राण पाने के लिए कल्पना की गई मोक्ष की। भारतीय दर्शन-क्षेत्र में इस मोक्षावस्था के दो रूप देखने को मिलते हैं। प्रथम, आत्मा का परमात्मा में लय और द्वितीय, आत्मा की परमात्मा तथा जगत् से भिन्न एकान्त स्थिति। रवीन्द्र इन दोनों में से किसी भी अवस्था के आकांक्षी नहीं। वे नहीं चाहते कि आत्मा परमात्मा में लय होकर अपने अस्तित्व से ही हाथ धो बैठे और न ही वह आत्मा को एक निष्क्रिय-निर्जीव मिट्टी के ढेले के रूप में किसी अज्ञात कोने में रख देने के हामी हैं, जहाँ पड़े-पड़े वह जंग खा जाय।

वस्तुतः रवीन्द्र न तो सांसारिक दुःखों से घबराने वाले निर्बल इच्छा-शक्ति के व्यक्ति हैं और न वह संसार से दूर रहकर मुक्ति की कामना करने वाले मनुष्य। वे तो कहते हैं कि जब ईश्वर ने स्वयं अपने ऊपर सृष्टि-रचना का बन्धन स्वीकार किया है तो भला मनुष्य को मुक्ति कहाँ से मिल सकती है? रवीन्द्र इस विस्तृत कर्म-क्षेत्र के बीच असंख्य बन्धनों में जकड़े-जकड़े मुक्ति का स्वाद लेने वाले व्यक्ति हैं। 'नैवेद्य' कविता संग्रह की 'मुक्ति' शीर्षक कविता में वे लिखते हैं—

वैराग्य-साधने मुक्ति, से आमार नय।।
असंख्य बन्धन-माझे महानन्दमय
लभिब मुक्तिर स्वाद। एइ वसुधार
मृत्तिकार पात्रखानि भरि वारम्वार
तोमार अमृत ढालि दिबे अविरत
नानावर्णगन्धमय। प्रदीपेर मतो
समस्त संसार मोर लक्ष वर्तिकाय

ज्वालाये तुलिवे आलो तोमारि शिखाय
तोमार मन्दिर-माझे ।।
इन्द्रियेर द्वार
रुद्ध करि योगासन, से नहे आमार ।
ये—किछु आनन्दआछे दृश्ये गन्धे गाने
तोमार आनन्द रवे तार माझखाने ।।
मोह मोर मुक्ति रूपे उठिवे ज्वलिया,
प्रेम मोर भक्ति रूपे रहिवे फलिया ।।

रवीन्द्र का विश्वास है कि इस जीवन में ही कुछ क्षण ऐसे आते हैं जब मनुष्य संसारजन्य मनोविकारों से ऊपर उठ, चित्त की निर्मल अवस्था प्राप्त करता हुआ शुद्ध प्रेम और आनन्द की स्थिति मे पहुँच जाता है जहाँ पहुँच कर अवगुण अवगुण नहीं दिखाई पड़ते और न गुण गुण ही रह पाते हैं । जीवन के ये निर्लिप्त क्षण हैं ।

काल की अनन्तता और उसके भ्रामक चरित्र पर भी कवि ने अपने विचार प्रकट किये हैं । नीचे की पंक्तियों में काल की सापेक्षता, अविभाज्यता और अमापता का उल्लेख है—

'सत्य यह है कि कलकत्ते से दूर यहाँ मैं अपने अन्तर्जगत में रहता हूँ, जहाँ घड़ियाँ अपना साधारण समय नहीं बतातीं, जहाँ समय अनुभूतियों की प्रबलता से नापा जाता है, जहाँ क्षण घण्टों में और घण्टे क्षणों में बदल जाते हैं । अतः मुझे लगता है कि काल और आकाश (स्पेस) के अन्तर्विभाग केवल मस्तिष्क के भ्रम हैं । प्रत्येक परमाणु अमाप और प्रत्येक क्षण असीम है ।'

काल के भ्रामक चरित्र का स्पष्टीकरण करने के लिये रवीन्द्र एक फारसी कहानी उद्धृत करते हैं जो उन्होंने बाल्यकाल में कहीं पढ़ी थी—

एक फकीर ने एक बर्तन में जादू का जल भरा और बादशाह से उसमें डुबकी लेने को कहा । बादशाह ने ज्योंही अपने सिर को डुबोया त्योंही उसने अपने आप को एक अनजान देश में, समुद्र-किनारे पाया जहाँ उसने अनेक काम करते हुए बहुत समय व्यतीत किया । उसका विवाह हुआ, बच्चे हुए, स्त्री और बच्चे मर गये, उसकी सारी सम्पत्ति नष्ट हो गई और जब उसने दुःखों से घबरा कर लम्बी साँस ली, उसने अपने आपको पुनः अपने कमरे में दरबारियों से घिरा पाया । वह बोला, 'लेकिन श्रीमन्, आपने केवल अपना सिर पानी में डाला और निकाला-भर है ।'

हमारा सम्पूर्ण जीवन भी एक ऐसी ही क्षणभर की डुबकी है, हम चाहे उसे कितना ही लम्बा क्यों न अनुभव करें।

इस प्रकार दर्शन की विषय-वस्तु पर अपने विचार बहुत ही स्पष्टता से रवीन्द्र ने व्यक्त कर दिये हैं। उनकी लेखनी से दर्शन का शायद ही कोई पक्ष अछूता रहा होगा। अपने दार्शनिक विचारों में वे कहीं तो उपनिषदों के निकट, कहीं भगवान् बुद्ध के निकट दिखाई पड़ते हैं तो कभी ईसा के, कभी गाँधी के तो कभी बर्नार्ड-शा के। फिर भी कुल मिलाकर वे इन सबसे बहुत दूर हैं। जिस प्रकार शुक्र का धवल नक्षत्र अन्य नक्षत्रों के निकट दिखाई पड़ने पर भी उनसे बहुत दूर अपनी कक्षा में प्रकाश विकीर्ण करता हुआ स्थिर है, उसी प्रकार रवीन्द्र भी अन्य दार्शनिकों से बहुत दूर रहते हुए आत्म-गौरव में तल्लीन हैं।

2

विकासवाद पर एक विहंगम दृष्टि

विकासवादी दर्शन का इतिहास अति प्राचीन है। भारत में कपिल मुनि के सांख्य दर्शन तथा ग्रीस देश में विकसित हुए अनाक्सीमेन्डर (611—546 ई. पू.) तथा अनाक्सागोरस (500–428 ई. पू.) के दर्शनों में विकासवाद के रूप दिखाई पड़ते हैं। इन रूपों का कोई वैज्ञानिक आधार न होने के कारण वे कवि-कल्पना (स्पेकुलेशन) के स्तर तक ही उठ कर रह गये हैं। विकासवादी विचार-धारा को वैज्ञानिक आधार प्रदान करने वाला सर्वप्रथम व्यक्ति अरस्तू (384 – 323 ई पू.) था जो एक प्राणिशास्त्री भी था। पर जिसे वैज्ञानिक विकासवाद कहा जाता है उसका वास्तविक प्रारम्भ ईसा की 18वीं–19वीं शती से होता है जब प्राणिविज्ञान और मनोविज्ञान के क्षेत्र में व्यापक अनुसन्धान के परिणाम-स्वरूप अनेक नवीन तथ्य प्रकाश में आये। फ्रेंच प्राणिशास्त्री ला मार्क (1744–1829 ई०) आधुनिक वैज्ञानिक विकासवाद का जनक कहा जाता है जिसने चूहों पर किये गये अपने प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि अर्जित प्रवृत्तियों का भी सन्तति में परिवहन होता है। यह शोध विकासवाद के क्षेत्र में युगान्तरकारी सिद्ध हुई।

विकास का क्रम सर्वथा निष्प्रयोजन है अथवा सप्रयोजन, इस प्रश्न के उत्तर में विकासवाद का सिद्धान्त दो स्थूल भेदों में वर्गीकृत हो जाता है–यंत्रवाद तथा प्रयोजनवाद। यह पूछे जाने पर कि विकास धीरे-धीरे, क्रमिक सतत रूप में होता है अथवा एक आकस्मिक क्रान्ति के रूप में, यह सिद्धान्त अन्य दो विभेदों में विभक्त हो जाता है—सातत्यवाद तथा नव्योत्क्रान्तिवाद।

समान कारण समान कार्य उत्पन्न करता है—इस सिद्धान्त को यन्त्रवाद कहते हैं। जिस प्रकार निर्जीव यन्त्र अपनी बँधी-बँधाई पद्धति पर कार्य करता चला जाता है, उसी प्रकार सृष्टि तथा प्राणियों का विकास भी बिना किसी सचेतन मार्ग के, स्वतः आकस्मिक रूप से होता चलता है। विकास का न तो कोई लक्ष्य है, न हेतु।

वह एक अन्ध प्रक्रिया है जो कारण–कार्य पद्धति पर होती चली जाती है। यान्त्रिक विकासवाद के दो चरण हैं–ब्रह्माण्ड-विकास तथा जैविक विकास।

हर्बर्ट स्पेन्सर (1820–1903 ई.) ने अपनी पुस्तक 'फ़र्स्ट प्रिन्सिपल्स' (1862) में ब्रह्माण्ड-विकास के अपने दर्शन की स्थापना की। उसके अनुसार अज्ञात परमतत्व के तीन रूप हैं—पुद्गल, गति तथा शक्ति। आदि एक रूप पुद्गल मेघरेणु (नेबुला) अर्थात् वाष्पकणों के रूप में था और बहुत बिखरा हुआ था। साथ ही वह निरन्तर हलचल की स्थिति में था। भौतिक नियमों या शक्तियों की क्रिया के कारण वह धीरे-धीरे गोलाकारों में समन्वित होकर जमने लगा। गुरुत्वाकर्षण के नियम के कारण वह अधिकतम घनत्व के केन्द्र की ओर बढ़ने लगा और ऐसा करते हुए केन्द्र के चतुर्दिक् घूमने लगा। इस प्रकार अधिकतम घनत्व का केन्द्र सूर्य विकसित हुआ और उसके चतुर्दिक् घूमते हुए वाष्पाणुओं के व्यूह जमकर ग्रह बन गये।

इस प्रकार स्पेन्सर के मतानुसार समन्वयीकरण तथा विभेदीकरण की दुहरी क्रिया ही सृष्टि के विकास का मूल कारण है। जैविक तथा सामाजिक विकास में भी यही दुहरी प्रक्रिया देखी जा सकती है। जहाँ तक जीव या प्राणी का प्रश्न है पहले जीवाणु (प्रोटोप्लाज्म) मिलकर एक गोलाकार एकरूपता प्राप्त करते हैं, फिर भिन्न-भिन्न शारीरिक क्रियाएँ निष्पन्न करने के लिए भिन्न-भिन्न अंग विकसित हो जाते हैं। इसी प्रकार समस्त व्यक्ति पहले समन्वित होकर समाज बनाते हैं, फिर श्रम-विभाजन के आधार पर विविध वर्गों में बँट जाते हैं।

चार्ल्स डार्विन (1809–1882) ने 'ओरिजिन ऑव स्पिसीज़') (1859) तथा 'डिसेन्ट ऑव मैन' (1871) नामक दो ग्रन्थ लिखकर जैविक विकास का अपना सिद्धान्त प्रतिपादित किया। उसके अनुसार जैविक विकास का मूल कारण शरीर-कोष्ठों (सैल्स) में होने वाले परिवर्तन हैं। ये परिवर्तन आकस्मिक रूप से होते हैं, और स्वतः होते रहते हैं, बाह्य परिस्थितियों का इनमें कोई हाथ नहीं रहता। इन परिवर्तनों में से कुछ तो प्राणी के अनुकूल होते हैं और कुछ प्रतिकूल। अनुकूल परिवर्तन अधिक होने पर प्राणी संघर्ष में विजयी होकर अतिजीविता (सर्वाइवल) प्राप्त करता है। प्रतिकूल परिवर्तन अधिक हो जाने की दशा में वह नष्ट हो जाता है। अनुकूल परिवर्तन वंश-परम्परा द्वारा अगली पीढ़ी में संक्रमित हो जाते हैं और पूरी जाति के लिए भी उपयोगी सिद्ध होते हैं। विकास-क्रम में उनसे नई जातियाँ उत्पन्न होती हैं। पृथ्वी के प्राणियों में भोजन के लिए होने वाला संघर्ष ही जीवन-संघर्ष है। इस संघर्ष में प्रकृति योग्यतम प्राणी का ही चुनाव करती है जिसे डार्विन ने 'नेचुरल सिलेक्शन' कहा है।

वीसमान (1834–1914) गम्भीर अनुसन्धान के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि अर्जित परिवर्तनों का शरीर-कोष्ठों पर भले ही प्रभाव पड़े पर जैविक-कोष्ठों को वे किसी भी प्रकार नहीं बदल सकते। अतः अर्जित प्रवृत्तियों का वंश-परम्परा में संक्रमण नहीं हो सकता। स्वयं जैविक द्रव (जर्म प्लाज्म) में ही होने वाले आकस्मिक और स्वतः सम्भवी परिवर्तन सन्तति में परिवहित होते हैं और वे ही विकास के मूल कारण हैं। वीसमान का सिद्धान्त जीव-द्रव की प्रवहमानता का सिद्धान्त है। उसका कहना है कि पितृ-अण्ड-कोष में सञ्चित जीव-द्रव के कुछ अंश का बच्चे के शरीर की बनावट में उपयोग नहीं होता और वह अपनी पीढ़ी के जन्तुवीय कोष्ठ के निर्माणार्थ सुरक्षित रहता है। इस प्रकार जीव-द्रव की प्रवहमानता अखण्ड है, स्वयम् जीव-द्रव में ही होने वाले परिवर्तन सन्तति में परिवहित होकर विकास का कारण बनते हैं।

ह्यूगो डी व्राइज़ जो एनाथेरा लेमार्किआना पौधे की कुछ नवीन जातियाँ विकसित करने में सफल हुआ, ने 1900 में 'महत् परिवर्तनों' (म्यूटेशन्स्) का अपना सिद्धान्त प्रतिपादित किया। उसका कहना है कि यद्यपि सदृश से सदृश की उत्पत्ति वंश-परम्परा का नियम है पर जीव बिल्कुल ही सदृश जीव को उत्पन्न नहीं करता। कुछ छोटी असमानताएँ उसमें होती हैं। पर कभी सदृश बिल्कुल ही असदृश को उत्पन्न कर देता है। इसी को डी व्राइज़ 'महत् परिवर्तन' कहता है। ये महत् परिवर्तन ही विकास के मूल कारण हैं। इन विपर्ययों के उदय का कारण क्या है, वह हमें नहीं बताता, पर कहता है कि होते वे आकस्मिक रूप से ही हैं जैसी कि डार्विन की भी मान्यता है। पर जहाँ डार्विन के यहाँ, वे परिवर्तन एक-एक कर होते हैं, वहाँ डी व्राइज़ का विश्वास है कि अनेक विपर्ययों का युगपत् उदय होकर नवीन जातियों के अनेक अप्रत्याशित रूप निकल पड़ते हैं।

विकास के यान्त्रिक सिद्धान्त की अपनी सीमाएँ हैं। सांयोगिकता पर अनपेक्षित निर्भरता के कारण यन्त्रवाद, विश्व तथा जगत् की आश्चर्यजनक एकता एवम् व्यवस्था की व्याख्या करने में असमर्थ है। अंग्रेजी वर्णमाला के अक्षरों को एकत्रित करने से जिस प्रकार शेक्सपीअर के 'आथेलो' की रचना नहीं हो सकती, उसी प्रकार यान्त्रिक शक्तियों का अन्ध कार्य एक सुनियोजित सृष्टि का विकास नहीं कर सकता। दो विभिन्न प्रजातियों में नितान्त ही भिन्न परिस्थितियों में विकसित होने वाले अङ्गों की आश्चर्यजनक समानता भी इस सिद्धान्त द्वारा नहीं समझाई जा सकती। उदाहरण के लिए एक पृष्ठ-वंशी (वर्टीब्रेट) तथा एक सामान्य कंकतवर्ध (पेक्टन) की अक्षि-रचना की तुलना करें तो पायेंगे कि कंकतवर्ध की आँख में सभी आवश्यक उपांग उपलब्ध हैं जो एक पृष्ठवंशी की आँख में होते हैं यथा शुक्ल-मण्डल (कॉर्निया) नेत्रान्त-पटल (रेटिना) जालीदार रचना वाले काच आदि। यह सर्वमान्य है कि इन उपांगों के विकसित होने से बहुत पहले पृष्ठवंशी प्राणी तथा कंकतवर्ध अपनी मूल प्रजाति

(जीनस) से पृथक् हो गये थे। फिर यह समानता कैसी? संयोगात्मक कारण, जिनका क्रम भी संयोगात्मक ही होता है, दो भिन्न विकास-श्रेणियों में क्योंकर एक ही परिणाम पर पहुँचा सकते हैं जबकि कारणों की संख्या अनन्त हो और उनका प्रभाव भी असीम रूप से जटिल हो? इसी प्रकार पादपों तथा पशुओं के यौन-विकास की दिशाएँ भी समानान्तर रही हैं। यौन तत्वों की तैयारी दोनों में एक ही पद्धति पर होती है; वही जीवाणुओं (क्रोमोसोम्स) की संज्ञा का न्यून होना, वही वर्ण-द्रव (क्रोमेटिक सब्सटेन्स) की मात्रा का परिहार, भिन्न परिस्थितियों में रहकर असमान गतिरोधों का सामना करते हुए भी परिणाम वही। इस एकता की व्याख्या यान्त्रिक सिद्धान्त द्वारा सम्भव नहीं है।

यान्त्रिकता का सिद्धान्त कि समान कारण, समान कार्य उत्पन्न करते हैं, जड़ जगत् में निस्सन्देह अकाट्य है पर प्राणिजगत् में उसकी सत्यता सन्दिग्ध है। यदि बाह्य परिस्थितियाँ ही प्राणी का नियमन करतीं तो उसके व्यवहारों का यन्त्र की क्रिया के समान ही, पूर्वकथन[1] सम्भव था। पर प्राणी यन्त्र नहीं है। उसकी चेतना किन्हीं भी परिस्थितियों का उत्तर देने वाली चेतनायुक्त क्रिया है।

बाह्य परिस्थितियाँ परिवर्तन के कारण के रूप में प्रतिभासित अवश्य होती हैं पर वस्तुत: वे 'कारण' नहीं होतीं। 'कारण' शब्द का प्रयोग तभी युक्तियुक्त होता है जब परिणाम की मात्रा तथा गुण, कारण की मात्रा तथा गुण के अनुरूप हो। बिलिअर्ड की गेंद का दूसरी गेंद से टकराना, दूसरी गेंद की गति का कारण है; चिनगारी बारूद के स्फोट का कारण है, घूमती हुई पिन ग्रामोफोन के संगीत का कारण है, इनमें से केवल प्रथम स्थिति में ही 'कारण', 'कार्य' की व्याख्या करता है। शेष दो स्थितियों में 'कारण' केवल उस अवसर का सूचक है जब पूर्वावसित कार्य प्रकट होता है। दियासलाई दिखाना बारूद के विस्फोट का कारण नहीं है, विस्फोट का कारण तो स्वयम् बारूद के भीतर है, जो वहाँ पूर्व-स्थित है। यही बात ग्रामोफोन की रिकार्ड के बारे में सत्य है। विकास के कारण की खोज जब तक प्राणी के भीतर नहीं की जाएगी तब तक विकासवाद 'कस्तूरी मृग' की भाँति बाह्य परिस्थितियों की घास ही सूँघता फिरेगा।

हेतुवाद या प्रयोजनवाद यह मानकर चलता है कि सृष्टि के विकास का कोई पूर्व-निर्धारित लक्ष्य है और उसी लक्ष्य की प्राप्ति की दिशा में विकास की समस्त

---

१. हक्सले का दावा है कि यदि वैज्ञानिक को सृष्टि के आरम्भ में व्याप्त मेघ-रेणुओं के गुण ज्ञात होते, तो वह गणना कर निश्चित रूप से बता सकता था कि १८६९ में ब्रिटेन के पशु वर्ग (फौना) की स्थिति क्या होगी? ला प्लास तथा बोइ रेमन्ड ने भी ऐसी ही विचारणा व्यक्त की है।

क्रिया गतिशील है। यदि यन्त्रवाद कारण-कार्य-शृंखला के माध्यम से हमें भूतकाल से वर्तमान पर लाता है तो हेतुवाद, साध्य-साधन-पद्धति के सहारे भविष्य से वर्त्तमान पर लाता है। प्रयोजनवाद या तो वाह्य हो सकता है या आन्तरिक। यदि किसी बौद्धिक सत्ता (ईश्वर आदि) द्वारा बाहर से, इस सृष्टि पर प्रयोजन लादा जाता है तो यह वाह्य प्रयोजनवाद होगा और यदि इस सृष्टि को चरम प्रत्यय का स्व-प्रकटीकरण ही समझा जाय तो वह आन्तरिक हेतुवाद माना जायेगा। हमारे यहाँ का 'एकोहं बहुस्याम्' इसी कोटि का प्रयोजनवाद है। प्रथम कोटि के हेतुवाद को स्वीकृत करने का अर्थ है ईश्वर को जगत् से बहिष्कृत कर उसे अनन्त से सान्त बना देना। अतः विकासवादी हेतुवाद को आन्तरिक समझने में ही अपना हित मानते हैं।

हेतुवाद का कट्टरतम रूप 'लीबनिज़' में मिलता है। वह विश्व में अद्भुत सामञ्जस्य तथा विकास में एक पूर्वनिर्धारित योजना के दर्शन करता है। पदार्थ तथा प्राणी उसी योजना की पूर्त्ति में संलग्न हैं, उस अन्तिम हेतु की ओर गतिशील हैं जो पहले से सुनिश्चित और सुनियोजित है। पर 'लीब्निज़' के इस बाह्य हेतुवाद में, कि घास घोड़े के लिए है और कि मेमना भेड़िये के लिये है, अब स्वयम् हेतुवादियों को आस्था नहीं रह गई है। अब वे हेतुवाद को केवल आन्तरिक ही मानते हुए कहते हैं कि प्राणी स्वयम् अपने लिए बना है, उसके अङ्गों में अद्भुत जटिलता के होते हुए भी अद्भुत सामंजस्य है और वे सब के सब अङ्गी के हित-साधन में संलग्न हैं। लीब्निज़ के व्यापक एवम् अखण्ड हेतुवाद को उन्होंने 'व्यक्तियों' के टुकड़ों में खण्ड-खण्ड करके बिखेर दिया है। हेतुवाद की भी अपनी सीमाएँ हैं। हेतुवाद, चूंकि सम्पूर्ण विकास को पूर्वनियोजित मानता है, अतः प्राणी का प्रयत्न व्यर्थ सिद्ध हो जाता है और हम दूसरे मार्ग से ही सही, फिर यान्त्रिकता की उसी परिचित भूमि पर आ लगते हैं जहाँ सब कुछ दिया हुआ है और प्राणी को अपनी ओर से कुछ करना नहीं। 'होइहै वही है जो राम रचि राखा'। इस दृष्टि से हेतुवाद, विपर्यस्त (इन्वर्टेड) यन्त्रवाद ही है जैसा 'बर्गसाँ' ने कहा था।

आन्तरिक हेतुवाद, वस्तुतः शशक-शृंग की सी कल्पना मात्र है। हेतुवाद या तो बाह्य ही होता है या होता ही नहीं। हेतुवादी यह भूल जाते हैं कि जिन तन्तुओं (टिस्यूज़) से प्राणी की अङ्ग-रचना होती है, वे स्वयम् में स्वतन्त्र प्राणी हो सकते हैं। इन स्वतन्त्र प्राणियों को, मुख्य प्राणी के आधीन बनाना, बाह्य हेतुवाद के सिद्धान्त को स्वीकार करना है। यही नहीं, इन तन्तुओं की रचना करने वाले कोषाणु (सैल्स) भी किसी सीमा तक स्वायत्त होते हैं। भक्षिकोशाओं (फेगोसाइट्स) में तो स्वायत्तता इस सीमा तक बढ़ जाती है कि हितों के टकराने पर अपने पोषक अङ्गी पर वे आक्रमण तक कर बैठते हैं।

हेतुवाद और भी संकटग्रस्त हो जाता है यदि उसे बताया जाय कि 'व्यक्ति' नाम की भी कोई वस्तु संसार में नहीं होती। 'व्यक्ति' कहलाने का अधिकारी वही है जो अपने आप में सम्पूर्ण इकाई है और जो अपने अस्तित्व के लिए किसी अन्य पर निर्भर नहीं करता। किन्तु हम जानते हैं कि हमारा व्यक्ति और कुछ नहीं, हमारे माता-पिता के शरीर के एक सूक्ष्म भाग का विकसित रूप है। इस प्रकार हमारा 'व्यक्तित्व' आत्मनिर्भर न होकर हमारे माता-पिता का मुखापेक्षी है और हो सकता है कि अपने व्यक्तित्व के प्रारम्भिक बिन्दु की खोज में प्रतिगमन (रिट्रोग्रेस) करते हुए हम उस जीवरसीय द्रव (प्रोटोप्लाज्मिक जैली) तक पहुँच जायें जो आनुवंशिक वृक्ष का आदि बीज है।

नव्योत्क्रान्तिवाद की मान्यता है कि जगत् के विकास में नूतनताओं की लगातार सृष्टि होती रहती है—ऐसी नूतनताएँ जो पहले विकास-क्रिया में स्पष्ट रूप से विद्यमान नहीं थीं यथा पुद्गल से जीवन की उत्क्रान्ति तथा जीवन से मन की उत्क्रान्ति।

नव्योत्क्रान्तिवादी विकासवादियों में बर्गसाँ[1] का स्थान अन्यतम है जिसने 'क्रिएटिव इवॉल्यूशन' (1907) लिखकर विकासवाद के क्षेत्र में क्रान्ति उत्पन्न कर दी। बर्गसाँ प्रवाहवादी (फलक्स) दार्शनिक है और प्रवाह को ही, गति को ही एक मात्र सत्ता मानता है। उसके अनुसार सृष्टि या सृजन का क्रम प्रति क्षण चलता रहता है। इस प्रकार आने वाले क्षण वर्तमान के क्षण से भिन्न होता है। इसीलिये बर्गसाँ ने अपने विकास-सिद्धान्त को 'सृजनात्मक विकास' कहा है।

बर्गसाँ के मत में, अन्तःस्थित जीवन्त प्रेरणा ही प्राणी के विकास का मूल कारण है जिसे उसने 'इलान व्हाइटल' की संज्ञा दी है। यह जीवन्त प्रेरणा, यह जिजीविषा जीवन का स्वाभाविक धर्म है जिसका उद्दाम वेग प्राणी को अपने विकास-पथ पर ठेलता चलता है और उन समस्त प्रवृत्तियों को विकसित करता चलता है जो अत्यन्त सूक्ष्म रूप में प्राणी के प्राण में निहित हैं। किन्तु विकसित या अभिवृद्ध होने की यह क्रिया शीघ्र ही अपनी सीमा प्राप्त कर लेती है और तब वृद्धि के स्थान पर विभाजन की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है। विभाजन की यह 'ऐन्टीथेसिस' भी स्वयम् प्राण में निहित होती है क्योंकि जीवन एक प्रवृत्ति है और प्रवृत्ति का विकास शस्य की बाल (शीफ) के रूप में होता है। इस प्रकार विकास एक सरल रेखा की भाँति एक ही दिशा में न होकर अनेक दिशाओं में होता है।

जीवन के बहुमुखी विकास को स्पष्ट करने के लिये बर्गसाँ एक विस्फोटक गोले का उदाहरण देता है। गोला सहसा फट जाता है और उसके खण्ड अनेक

---

१. फ्रेंच दार्शनिक (१८५९–१९४१)

दिशाओं में उछल पड़ते हैं। इन खण्डों में से प्रत्येक में फिर विस्फोट होता है और उत्क्षेपित खण्डांश फिर स्फोट के लिये प्रस्तुत रहते हैं और यह क्रम अनन्त काल तक चलता रहता है। इसी प्रकार जीवन की प्रवृत्तियाँ भी जातियों और उप-जातियों में विभाजित होती चलती हैं। यह विभाजन और उप-विभाजन चाहे जितनी बार हो, होता है उसी मूल प्रेरक शक्ति का। अत: विभिन्न जातियों में विकसनशील प्रवृत्तियाँ विरोधी होने पर भी एक दूसरी की पूरक होती हैं।

पादप तथा पशु एक ही प्रजाति (जीनस) से विकसित जातियाँ (स्पिसीज़) हैं पर अपना खाद्य जुटाने की विधि दोनों की पृथक् है। पादप अपना भोजन विशेषत कार्बन और नाइट्रोजन सीधे पृथ्वी तथा वायु से खनिज रूप में प्राप्त करता है जब कि पशु इन्हें पादप से आंगिक (आर्गेनिक) रूप में प्राप्त करता है। अपवाद-स्वरूप कुकुर-मुत्तों (फंगी) के कुछ प्रकार अपना खाद्य पशुओं की विधि से प्राप्त करते हैं। वे पृथ्वी से तो खाद्य खींचते ही हैं, उड़ते हुए कीट-पतंगों को भी पकडकर चूस लेते हैं। वस्तुत: पादप और पशु में प्रवृत्तियाँ तो समान ही हैं, पर पादप प्रवृत्ति-विशेप पर बल देकर उसमें विशेष योग्यता प्राप्त करता है। पशु दूसरी ही प्रवृत्ति को विकसित करता तथा उसमें विशेषीकरण प्राप्त करता है। इस प्रकार पादप तथा पशु जाति की प्रवृत्तियाँ एक दूसरी की पूरक हैं।

पशु जाति का विकास फिर दो श्रेणियों में हुआ है—एन्थ्रोपॉड तथा वर्टीब्रेट। प्रथम का चरम विकास कीट में, विशेषत: कलापक्षा (हायमेनॉप्टेरा) में हुआ तथा दूसरी का मनुष्य में। सहजबोध (इंस्टिंक्ट) का चरम विकास कीट-योनि के कलापक्षा मे दिखाई पड़ा और बुद्धि का चरम विकास पृष्ठवंशी मानव में। इस प्रकार सहज-बोध तथा बुद्धि भी परस्पर पूरक हैं, विरोधी नहीं।

ल्यॉड मॉर्गन (1852–1936) ने अपनी 'गिफर्ड व्याख्यान माला' (1922–23 ई.) तथा अपनी पुस्तक 'लाइफ, माइन्ड एण्ड स्पिरिट' (1926 ई.) में जो नव्योत्क्रान्त-विकास' का दर्शन प्रतिष्ठित किया वह वैज्ञानिक भूमि पर खड़ा था। प्राणि-विज्ञान तथा पशु-मनोविज्ञान में मॉर्गन की रुचि ही नहीं, गति भी थी और इस क्षेत्र में उसके द्वारा किया गया कार्य मनोविज्ञान के 'बिहेविअरिस्ट' स्कूल का प्रेरक भी रहा।

मॉर्गन के अनुसार विकास दो सिद्धान्तों के अन्तर्गत अग्रसर होता है—परि-णाम (रिज़ल्टेन्ट) सिद्धान्त तथा नव्योत्क्रान्त (इमर्जेन्ट) सिद्धान्त। इनमें से प्रथम उसी को व्यक्त या विकसित करता है जो पहले से ही विद्यमान है और अव्यक्त है। दूसरा किसी ऐसे नितान्त नवीन को, विशिष्ट क्षणों में, आविर्भूत करता है जिसकी पूर्व-कल्पना असम्भव है, चाहे उसके आविर्भाव के पहले की समस्त स्थितियों का हमें

सम्यक् ज्ञान ही क्यों न हो। इस दूसरे सिद्धान्त द्वारा ही वास्तविक विकास होता है क्योंकि इसी के द्वारा पुद्गल से जीवन तथा जीवन से मन का विकास होता है। विकास-क्रम में मॉर्गन ये दो उत्क्रान्तियाँ मानता है–पुद्गल से जीवन तथा जीवन से मन का विकसित होना। ये दोनों ही आविर्भाव के पूर्व सुप्त या प्रच्छन्न रूप में भी नहीं थीं, वे पूर्णतया नूतन हैं।

मॉर्गन उत्क्रान्तिवाद में विश्वास करते हुए भी, डार्विन तथा स्पेन्सर के विकासवादी प्रकृतवाद के प्रभाव से बच न सका। उसका रिज़ल्टेन्ट' सिद्धान्त दोनों के यान्त्रिकवाद से समझौता करता दिखाई देता है। उसका दूसरा सिद्धान्त जीवन-प्रक्रिया की यान्त्रिक अवधारणा के विरुद्ध विद्रोह करते हुए, बर्गसाँ के गुरुतर प्रभाव को स्वीकार करता है। इस प्रकार मॉर्गन का नव्योत्क्रान्तिवाद, प्रकृतवाद तथा सृजनात्मक विकासवाद का मध्यवर्ती-मकान (हाफ-वे-हाउस) है।

बर्गसाँ के 'इलान व्हाइटल' सिद्धान्त को मॉर्गन ने यह कह कर अस्वीकृत कर दिया है कि वह अवैज्ञानिक है पर उससे यदि पूछा जाय कि नव्योत्क्रान्ति, अन्ततः होती ही क्यों है तो पहले तो वह यही उत्तर देता है कि यह एक सत्य है और इसे स्वीकार कर लिया जाना चाहिये। पर इससे काम चलता न देखकर, वह समस्त घटनाओं एवम् विकास के पीछे एक क्रियात्मक शक्ति, एक ईश्वर की कल्पना कर बैठता है। इस सक्रिय सिद्धान्त को मॉर्गन ने मान्यता क्या दी, बर्गसाँ का 'इलान व्हाइटल' सिद्धान्त ही पीछे के द्वार से आ गया, जिसे सामने के द्वार से उसने बाहर फेंक दिया था।

सेमुअल अलेक्ज़ेन्डर (1859-1938) ने ब्रह्माण्ड का विकास दिक्-काल (स्पेस-टाइम) से माना है। यह दिक्-काल विशुद्ध गति (मोशन) है। बर्गसाँ ने काल की ही सत्ता मानी थी जो दिग्शून्य था। अलेक्जेन्डर का कहना है कि दिक् के अभाव में, काल क्षणिक अस्तित्वों की श्रृंखला बनकर रह जाता है। काल में दिक् के प्रवेश द्वारा ही वास्तविक नैरन्तर्य उत्पन्न होता है। इसी प्रकार दिक् में काल की प्रविष्टि, अनेकता और विविधता को जन्म देती है। दिक् तथा काल की, एक दूसरे के अभाव में, कोई स्थिति नहीं हो सकती।

अलेक्ज़ेन्डर विकास-क्रम में नैरन्तर्य पर बहुत बल देता है और उसमें न तो कहीं विच्छिन्नता देखता है और न किसी प्रकार की उत्क्रांति। सारा क्रम जिन उत्थान-मूलक स्थितियों का परिणाम है, वे अति सूक्ष्म तथा अदृश्य होती हैं। दिक्-काल अर्थात् विशुद्ध गति से, सर्वप्रथम विशिष्ट गतियाँ उत्पन्न होती हैं जिनसे पुद्गल का विकास होता है। पुद्गल से पुद्गलीय गुण तथा उन गुणों से जीवन का विकास होता है। जीवन से मन, तथा अन्त में दैवी शक्ति (डीटी) का विकास होता है जो विकास

की चरम परिणति है। मूल्यों की संगति इस शृंखला से नहीं बैठती अतः अलेक्ज़ेन्डर ने उनका विवेचन पृथक् रूप से किया है और व्यक्तिगत चेतना के समाजीकरण से उनका विकास माना है।

अलेक्ज़ेन्डर ने इस बात पर बहुत बल दिया कि यद्यपि जीवन पुद्गल से उत्क्रांत है तथापि वह पुद्गल की प्रक्रियाओं का ही विकास है और इस प्रकार पुद्गल से जीवन तक एक सातत्य है, अविच्छिन्नता है। यही बात जीवन से मन तक के विकास में भी सत्य है।

अलेक्ज़ेन्डर ने उत्क्रांति तथा सातत्य में सामंजस्य स्थापित करने की असफल चेष्टा की है। ईश्वर को भी निरन्तर विकसित होते रहने की स्थिति में डालकर उन्हें 'अपूर्ण' बना दिया है। उसे विकास का अन्तिम नव्योत्क्रान्त बताया गया है और सम्पूर्ण विकास-क्रम को परिचालित करने वाली शक्ति भी। इस प्रकार से एक और अन्तर्विरोध उसके दर्शन-सिद्धान्त में घुस आया है। दिक्-काल का विस्तृत विवेचन करते हुए उसने काल को ही अधिक महत्व दिया है और 'विशुद्ध गति' को ही ब्रह्माण्ड का कारण माना है। उसने अप्रत्यक्ष रूप से ही सही, वर्गसाँ के प्रवाहवाद को स्वीकार कर लिया है।

व्हाइटहेड (1861–1947) उन्नीसवीं शती के वैज्ञानिक क्षेत्र में आविष्कृत उन चार क्रान्तिकारी सिद्धान्तों को लेकर चला जिन्होंने न्यूटन के ब्रह्माण्डवाद को अपदस्थ कर संघटनवाद के नवीन दर्शन की प्रतिष्ठा की और जिसमें से प्रथम तीन को लेकर मार्क्स तथा एंजेल्स ने मार्क्सवाद की पृष्ठभूमि निर्मित की। वे सिद्धान्त थे–

(1) शक्ति के संरक्षण एवम् रूपान्तर का सिद्धान्त

(2) परमाणुधर्मिता तथा उसका जीवविज्ञान में प्रयोग

(3) डार्विन का विकास-सिद्धान्त

(4) अन्तरिक्ष-भर में शक्ति एवम् गति-क्षेत्रों की अवस्थिति

उनमें से प्रथम सिद्धान्त का भौतिकी-जगत् में यह प्रभाव हुआ कि पुद्गल की व्याख्या अब पिण्ड के रूप में न होकर, शक्ति के रूप में होने लगी। द्वितीय सिद्धान्त के अनुसार यह माना जाने लगा कि जीव-कोष ही नहीं, समस्त निर्जीव परमाणु भी निरन्तर गति एवम् शक्ति के सुसंगठित केन्द्र हैं। अन्तर केवल धरातल तथा मात्रा का है। तीसरे सिद्धान्त से यह दृष्टि प्राप्त हुई कि पाषाण से लेकर मनुष्य तक एक ही प्रक्रिया या नैरन्तर्य है और चौथे सिद्धान्त से, जिसका मार्क्सवाद लाभ न उठा

सका, यह निष्कर्ष निकला कि विश्व परस्पर अन्तः सम्बद्ध घटनाओं के पुञ्ज का नाम है। यह अन्तिम सिद्धान्त ही व्हाइटहैड के दर्शन का मेरुदण्ड बना।

न्यूटन की मान्यता थी कि पुद्गल के प्रत्येक टुकड़े का एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व होता है जो दिक् एवम् काल दोनों से निरपेक्ष है; शेष ब्रह्माण्ड में होने वाली घटनाओं तथा पुद्गल-खण्ड के भूत-भविष्य का लेखा लिए बिना ही उसके गुणों की व्याख्या सम्भव है। पर ऋजु अवस्थान (सिम्पल लोकेशन) के इस सिद्धान्त को आधुनिक भौतिकी ने ठुकरा दिया है। ब्रह्माण्ड में सूर्य, ग्रह, उपग्रह, नक्षत्र, अणु, परमाणु आदि जितने भी पदार्थ हैं, सबके सब अपना प्रभाव विकीर्ण करते हैं जो परिमित वेग से ही सही, दिक् और काल की सीमाहीन दूरियों तक पहुँचता रहता है और पदार्थों को प्रतिक्षण परिवर्तित करता चलता है। अन्तरिक्ष-भर में व्याप्त परिवर्तन की इस क्रिया को ही व्हाइटहैड 'परम सत्य' मानता है और शेष सब कुछ को इससे उद्भूत मानता है। उसकी दृष्टि में विकास का मूल कारण यही है।

घटनाओं के मध्य आन्तरिक सम्बन्ध दो प्रकार का है—पहला विस्तार (एक्स्टेन्शन) का और दूसरा ग्रहणशीलता (प्रिहेन्सन) का। सरल शब्दों में, पहला प्रभावित करने तथा दूसरा प्रभावित होने का सम्बन्ध है। शक्ति एवम् गति के समस्त क्षेत्र, इस प्रकार सतत रूप से न केवल अन्य क्षेत्रों को प्रभावित करते हैं अपितु स्वयम् भी प्रभावित होते रहते हैं।

व्हाइटहैड प्रत्येक सत्ता को द्वि-ध्रुवीय मानता है। अन्य सत्ताओं का प्रभाव ग्रहण करने की क्षमता, इसका भौतिक या शारीरिक ध्रुव है तथा नूतन सम्भावनाओं को पकड़ पाने की योग्यता इसका मानसिक ध्रुव है। यद्यपि अधिकांश सत्ताओं में मानसिक ध्रुव शुद्ध या निष्क्रिय होता है तथापि प्राणहीन सत्ताएँ भी प्रभावित होने की स्थिति में निष्क्रिय नहीं रहतीं। उन तक पहुँचने वाले प्रभावों का वे सक्रिय होकर उत्तर देते हैं और उनमें से कुछ ऐसे प्रभावों का चयन करते हैं जिनका उत्तर देना व्यक्तिगत लक्ष्य की दृष्टि से सम्भावनाओं की एक निश्चित रेखा के अनुकूल होता है। चुम्बक का विद्युत्-क्षेत्र के प्रति तथा फोटोग्राफी की फिल्म का प्रकाश-किरणों के प्रति सक्रिय होना इसके उदाहरण हैं।

व्हाइटहैड द्वारा प्रतिपादित घटनाओं के बीच सम्बन्ध की आन्तरिकता को हीगेल के परम तत्व (एब्सॉल्यूट) के समकक्ष समझना भ्रांतिपूर्ण होगा। यद्यपि दोनों का दर्शन संघटनवादी है, दोनों ही आन्तरिक सम्बन्धों, ठोस सत्ताओं तथा द्वन्द्वात्मक एकताओं में विश्वास रखते हैं तथापि दोनों में अन्तर भी पर्याप्त है। व्हाइटहैड का

दर्शन जहाँ प्रक्रिया एवम् वृद्धि का दर्शन है वहाँ हीगेल का दर्शन मात्र तर्कात्मक है। यह हीगेल का दोष न होकर वस्तुतः हीगेल के समय का दोष है क्योंकि उन्नीसवीं शती के पूर्वार्द्ध तक वैज्ञानिकों द्वारा, पुद्गल की जो परिभाषा विकसित की गई थी, उसके अनुसार पुद्गल से प्राण का विकसित होना असम्भव था। दूसरे कवि-काल्पनिक उड़ानों के बावजूद व्हाइटहैड का दर्शन प्रयोगसिद्ध (एम्पीरिकल) है और ठोस सत्ताओं पर बल देने के बावजूद हीगेल का दर्शन सर्वातिशायी (ट्रान्सेन्डेंटल) है।

व्हाइटहैड की उन दार्शनिकों से असहमति है जो प्रकृति को दो भागों में विभाजित करने के आदी हैं। वे लोग प्रकृति का एक रूप तो अणु-परमाणु, प्रकाश-मात्रा आदि को मानते हैं जिसका अध्ययन भूत-शास्त्रियों द्वारा किया जाता है तथा दूसरा रूप इन्द्रधनुष, कोयल के स्वर, सुरभित समीर के स्पर्श, वर्णगन्धमय पुष्प एवम् ओस-कण के सौन्दर्य आदि को मानते हैं जो कवियों तथा चित्रकारों के सरोकार की वस्तु है। प्रकृति का यह दूसरा प्रकार, अनुभवकर्त्ता के शरीर तथा मन पर निर्भर रहने के कारण सापेक्ष सत्य ही माना जाता है। व्हाइटहैड का कहना है कि उसे वस्तु-निष्ठ सत्य के क्षेत्र से वहिष्कृत कर देना, वैज्ञानिकों एवम् विज्ञानवादी दार्शनिकों की दुरभिसंधि है। प्राकृतिक क्षेत्र में जो कुछ जिस रूप में उपलब्ध है, वह सब का सब समान रूप से सत्य है। उसमें से चुनने का अधिकार कहाँ से आ गया? कोयल का संगीत भी उतना ही सत्य माना जाना चाहिये जितना परमाणु को या विद्युत्-लहर को।

कोयल की काकली अपने चारों ओर के वातावरण में जो ध्वनि-लहरें उत्पन्न करती है, वे अपनी निश्चित गति से चल कर श्रोता के कान के पर्दों पर बजती हैं और उसके ज्ञानतंतुओं एवम् मस्तिष्क में निश्चित परिवर्तन उत्पन्न करती हैं। स्नायु-शिराओं आदि में होने वाला यह परिवर्तन घटना का शारीरिक या भौतिक ध्रुव है और जिसे हम संगीतानन्द की अनुभूति कहते हैं, वह उसी का मानसिक ध्रुव है। वैज्ञानिक सामान्यीकरणों ने हमारे चतुर्दिक् एक ऐसे जगत् का निर्माण कर दिया है जिसमें मूल्यों के लिए हमारे मन में कोई स्थान नहीं रह गया है। न केवल सभी युगों के रहस्यवादियों की गहनतम अन्तर्दृष्टि को यह अस्वीकारता है अपितु सौन्दर्य और कला के प्रति हमारी अभिरुचि के लिए भी स्थान नहीं छोड़ता।

इस प्रकार विज्ञान जिस सत्य से हमारा परिचय कराता है वह समग्र सत्य न होकर खण्ड सत्य ही है। मनुष्य के समग्र व्यक्तित्व की सन्तुष्टि के लिए वैज्ञानिक के सत्य तथा कलाकार के सत्य को समन्वित होना होगा। यह समन्वय स्वयम् विज्ञान के

हित की दृष्टि से भी आवश्यक हो गया है। उदाहरण के लिए यदि समस्त सृष्टि पुद्गल ही का विकास मानी जाय तो 'पुद्गल' को नये सिरे से परिभाषित करना होगा। समस्या है कि पुद्गल की क्या परिभाषा दी जाय कि वह तीन भिन्न स्तरों पर तीन भिन्न प्रकार से व्यवहार करे? यह कहना कि वही पुद्गल एक उछाल लेकर प्राणी में प्रयोजनवादी तथा मनुष्य में सौन्दर्य एवम् तर्कवादी पद्धति पर कार्यशील हो जाता है, एक प्रकार से चमत्कार में विश्वास करना है। और यदि इस चमत्कार से बचना है तो फिर विकास के प्रत्येक नवीन सोपान पर पुद्गल की एक नवीन एवम् भिन्न परिभाषा देना अनिवार्य हो जाता है।

---

3 अरविन्द-दर्शन : ज्ञानमीमांसा

भारतीय दर्शन में ज्ञान के सामान्यतया स्वीकृत स्रोत चार है : प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द । ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान है; अनुमान अर्थात् तर्क द्वारा प्राप्त ज्ञान अनुमित ज्ञान है; सादृश्य-सम्बन्धजनित ज्ञान उपमित ज्ञान है तथा आर्ष वाणी या आप्त वाक्य द्वारा प्राप्त ज्ञान शब्द-ज्ञान है । पर, भारतीय दर्शन के किसी भी स्कूल के साथ यह प्रतिबद्धता नहीं रही कि वह इनमें से प्रत्येक ज्ञान को प्रमा (सत्य ज्ञान) तथा प्रत्येक स्रोत को प्रमाण मानकर चले । वस्तुत:, दर्शन का प्रत्येक स्कूल इन ज्ञानस्रोतों की सापेक्षिक सत्य-दर्शन-क्षमता का व्यापक विवेचन कर निर्णय लेता था कि केवल अमुक-अमुक स्रोत ही प्रमाण कहलाने के अधिकारी हैं, शेष नहीं । इस प्रकार चार्वाक-दर्शन का निर्णय था कि केवल 'प्रत्यक्ष' ही प्रमाण है और न्याय-वैशेषिक दर्शन का निष्कर्ष था कि 'अनुमान'-मात्र ही प्रमाण है ।

श्री अरविन्द ने भी ज्ञान के स्रोत यद्यपि चार ही माने हैं, पर वे परम्परागत स्रोतों से भिन्न हैं । ज्ञानस्रोतों का वर्गीकरण उन्होंने स्वयम् द्वारा निश्चित ज्ञान के उद्देश्य[1] को दृष्टिपथ में रख कर किया है। उनके अनुसार ज्ञान के स्रोत[2] इस प्रकार हैं : 1. तादात्म्य; 2 गहन प्रत्यक्ष सम्पर्क; 3. तटस्थ प्रत्यक्ष सम्पर्क और 4 नितान्त अप्रत्यक्ष सम्पर्क । इन स्रोतों में प्रथम, अर्थात् तादात्म्य ज्ञान, जिसे सायुज्य ज्ञान भी कहा जा सकता है, पूर्णतया विशुद्ध एवम् निर्विशेष ज्ञान होता है, बाह्य मन में जिसका उदाहरण हमारे अपने अस्तित्व की चेतना है । इस ज्ञान में 'स्व' की अनुभूति के अतिरिक्त किसी विजातीय वस्तु की चेतना का अंश नहीं होता ।

गहन-प्रत्यक्ष सम्पर्क से प्राप्त होनेवाले ज्ञान का उदाहरण आत्मगत चेतना-प्रवाह में या चेतना की क्रियाओं में देखा जा सकता है, जहाँ चेतना की दुहरी क्रिया चलती है । चूंकि हम स्वयम् को एक निश्चित तदाकारता के साथ इन क्रियाओं में

1. Sri Aurobindo : The Synthesis of Yoga, p. 382.
2. Do The Life Divine, Vol. 2, p. 624.

प्रलम्बित कर सकते हैं, इसलिए उसमें तादात्म्य-ज्ञान का भी किसी सीमा तक सन्निवेश रहता है, यथा क्रोध के तीव्र मनोवेग की स्थिति में हम अपने-आप को भूल जाते हैं और हमारी समग्र चेतना, क्रोध की एक लहर के रूप में दिखाई पड़ती है। हम विचारक न रहकर, विचार-मात्र रह जाते हैं। पर साधारणतया ऐसी स्थिति में एक और भी मानसिक क्रिया चलती रहती है। हमारे 'स्व' का एक भाग विचार बना रहता है, दूसरा भाग ज्ञाता बनकर चेतना-प्रवाह के साथ हो लेता है या अत्यन्त निकटता से उसका अनुगमन करता है। इस प्रकार, अत्यन्त निकटता से तथा प्रत्यक्ष सम्पर्क से वह हमारी चेतना-प्रक्रियाओं का ज्ञान प्राप्त करता है। ज्ञाता तथा ज्ञेय का भेद हो जाने के कारण यह ज्ञान तादात्म्य या निर्विशेष ज्ञान से कुछ नीचे रह जाता है।[1]

तीसरे प्रकार का ज्ञान तटस्थ प्रत्यक्ष सम्पर्क से उत्पन्न होता है। यहाँ यद्यपि सम्पर्क प्रत्यक्ष होता है, तथापि ज्ञाता की ज्ञेय से तटस्थता होने के कारण तादात्म्य-ज्ञान असम्भव होता है। इस तटस्थता के कारण हम इस स्थिति में बने रहते हैं कि अपनी मनन-क्रिया का विवरण अपने शेष अस्तित्व के सम्मुख उपस्थित कर सकें। चिन्तन के क्षणों में, यद्यपि विचार और विचारक में अपने अस्तित्व को विभाजित कर सन्तुलन बनाये रखना कठिन अवश्य है, तथापि इस प्रकार का दुहरा तथा सन्तुलित ज्ञान असम्भव नहीं है।[2] सन्तुलन के विस्थापित हो जाने की स्थिति में प्रेक्षण एवं पुनर्मूल्यांकन का यह कार्य समसामयिक न होकर स्मृति की सहायता से सिंहावलोकन के रूप में होता है अथवा चिन्तन-प्रक्रिया पर आलोचनात्मक दृष्टि डालने हेतु, उसे क्षण-भर के लिए स्थगित करके किया जाता है। विचारक में धीरे-धीरे यह क्षमता उत्पन्न हो सकती है कि अन्तश्चेतना के धरातल पर थोड़ा पीछे हटकर वह तटस्थ भाव से मन:शक्ति के प्रवाह का ज्ञान प्राप्त कर सके।

बहिर्जगत् के पदार्थों तथा प्राणियों का ज्ञान, नितान्त अप्रत्यक्ष सम्पर्क द्वारा होता है। चूंकि, बाह्यजगत् के पदार्थों की अनुभूति 'स्व' के रूप में नहीं होती, इसलिए उनके साथ न तो तादात्म्य ही सम्भव है और न चेतना का प्रत्यक्ष सम्पर्क ही। तब अप्रत्यक्ष सम्पर्क का माध्यम बनती हैं इन्द्रियाँ, जो वस्तुओं तथा प्राणियों का आन्तरिक स्वरूप उपस्थित न कर केवल सतही बिम्ब उपस्थित करती हैं। वस्तु का यह सतही बिम्ब-ज्ञान, पदार्थ को उसके समग्र रूप में उपस्थित न कर पाने के कारण भ्रामक होता है। इन्द्रिय-जन्य ज्ञान कहने को ही प्रत्यक्ष होता है, वस्तुत: होता वह अप्रत्यक्ष ही है। बाह्य पदार्थ का मन:पट पर बिम्ब बनने तक की प्रक्रिया में न जाने कितने मानसिक संवेदनों की दीर्घ शृंखला को माध्यम बनना पड़ता है। ज्ञान-तन्तुओं द्वारा

---

1. Sri Aurobindo : The Life Divine, Vol. 2, pp. 624-25.
2. Ibid, p. 626.

क्रम-क्रम से बटोरकर लाये गये संवेदनांशों का ढेर अस्त-व्यस्त ही पड़ा रहता है, जब तक कि छठी इन्द्रिय—मनस्, आकर उस पर कार्य प्रारम्भ नहीं कर देती। इन्द्रियों की अकिंचनता और दरिद्रता की पूर्त्ति के लिए ही शायद मनुष्य को इस छठी इन्द्रिय का विकास करना पड़ा।[1] पर यह सब कुछ होने के बाद भी जिस ज्ञान की प्राप्ति हमें होती है, वह अत्यन्त सतही और भ्रामक होता है।[2]

अनुमित ज्ञान की स्थिति भी इससे अच्छी नहीं है क्योंकि वह हमारे इन्द्रिय-ज्ञान ही पर आधृत है। दूसरे, तर्क की आधार-स्वरूपा बुद्धि. केवल खण्डित सत्य या अर्द्ध-सत्य का ही उद्घाटन करती है, पूर्ण सत्य का नहीं। तीसरे, बुद्धि-जन्य ज्ञान देश-काल-सापेक्ष ज्ञान होता है और वह समग्र (Integral) सत्य के स्वरूप-दर्शन में अक्षम होता है। पर, सापेक्ष दृष्टि से इन्द्रिय ज्ञान की अपेक्षा तर्कज्ञान अधिक विश्वसनीय है, क्योंकि इन्द्रिय, जहाँ वस्तु के संवेदन बटोरकर सन्तुष्ट हो लेती है, तर्क वहाँ आगे बढ़कर, अनेक समानधर्मा वस्तुओं या तथ्यों की तह में कार्य-व्यस्त सामान्य और व्यापक नियमों की खोज करता है। इसीलिए, अरविन्द ने स्थूल भौतिक पदार्थों के क्षेत्र में इसकी महत्ता को स्वीकार किया है। वे न तो तर्क के निन्दक हैं और न ही उसे व्यर्थ और त्याज्य मानते हैं। आपत्ति उन्हें तर्क को सर्वोच्च प्रकाश मानने में है।

वस्तुओं तथा प्राणियों के अन्तःस्वरूप के सम्बन्ध में, बुद्धि तथा इन्द्रियाँ किसी प्रकार का प्रकाश नहीं देतीं; क्योंकि उनके अन्तस्तल में प्रवेश पाने में, वे नितान्त असमर्थ हैं। अन्य प्राणी तथा जड़ पदार्थ तो दूर, हम अपने ही जैसे शरीर-मनवाले मनुष्यों तक को भीतर से नहीं जान पाते। अधिक-से अधिक हम यह कर सकते हैं कि मानव-शरीर एवम् मानव मस्तिष्क-सम्बन्धी कुछ अति सामान्य नियमों को, अपने व्यक्तिगत अनुभव के प्रकाश में, उन पर घटित कर दें और कुछ उल्टे-सीधे निष्कर्ष निकाल लें। परिणाम यह होता है कि वर्षों साथ रहने के बाद भी हम एक-दूसरे के लिए अपरिचित रह जाते हैं। हमारा सामान्य अन्तरावलोकन, जिसका सम्बन्ध हमारे बाह्यचेतन से ही है, हमें दूर नहीं ले जाता। बाह्य जगत् का ज्ञान हमारे सम्मुख एक विचित्र सम्मिश्रण के रूप में उपस्थित होता है, जिसमें एक ओर ऐन्द्रिय बिम्बों की जड़ राशि होती है, तो दूसरी ओर, उन बिम्बों का अर्थबोध कराने के प्रयत्न में व्यस्त प्रतिबोधक (Perceptive) मन होता है। तीसरी ओर, प्राप्त ज्ञान के रिक्त स्थानों की पूर्त्ति करता तथा विच्छिन्न सूत्रों को जोड़ता हुआ तर्क होता है, तो चौथी ओर व्याप्तियाँ, उपस्थापनाएँ (Hypotheses) और सिद्धान्त बिखरे होते हैं। इतने पर भी जिस ज्ञान की प्राप्ति हमें होती है, वह अनेक अनिश्चितताओं, शंकाओं तथा विवादों से आक्रान्त रहता है।[3]

---

1. Sri Aurobindo : The Life Divine, Vol. 2, p. 629.
2. Do Evolution, p. 14-15.
3. Sri Aurobindo; The Life Divine, Vol. 2, p. 629.

दूसरी ओर हमारा 'स्व' का ज्ञान, अधिक प्रत्यक्ष होते हुए भी, हमारे स्वात्म का केवल सतही ज्ञान होता है क्योंकि सामान्य अन्तरावलोकन केवल बाह्यचेतन या जाग्रदवस्था की क्रियाओं का ही ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त कर सकता है, स्वप्नावस्था (Subconscient) तथा सुषुप्त्यवस्था (Inconscient) का नहीं। चेतना के इन तीनों धरातलों को समाहित एवं संचालित करने वाला हमारा अन्तरतम स्वरूप है, हमारा व्यापक व्यक्तित्व है, उसके क्रिया-कलापों की व्याख्या इस सामान्य अन्तरावलोकन द्वारा सन्दिग्ध है। हमारे स्वात्म की गहराइयाँ, हमारी प्रकृति के निगूढ़ रहस्य उस दीवार की ओट में हैं, जो हमारी बहिर्मुख चेतना तथा अहं-पीड़ित मस्तिष्क ने खड़ी कर ली है।

इस प्रकार, आत्म-अज्ञान तथा जग-अज्ञान की दुहरी भित्तियों में आबद्ध रहने के कारण हमारा ज्ञान अपूर्ण और सीमित है।[1] ज्ञान की पूर्णता, आत्मा तथा विश्वात्मा—दोनों के आन्तरिक सत्य-ज्ञान की प्राप्ति में है। यह तभी सम्भव है, जब इस दुहरी भित्ति का विनाश हो। जिस प्रकार मुर्गी का बच्चा अण्डे के कठोर छिलके को तोड़कर बाहर के अनन्त मुक्त वातावरण में पहुँच जाता है, उसी प्रकार हमारे स्वात्म को भी व्यक्तिगत शरीर-मन की रुद्ध कोठरी से निकलकर विश्व-शरीर तथा विश्व-मन से एकात्म करना होगा।

अरविन्द की मान्यता है कि आत्मज्ञान और विश्वात्मज्ञान में से प्रथम को ही प्राथमिकता देनी चाहिए; क्योंकि उसके सत्य का ज्ञान होने पर दूसरे का, अर्थात् बाह्य विश्व का सत्य स्वतः प्रकट हो जायगा।[2] वस्तुतः, बाहर हम जो कुछ हैं, वह हमारे 'भीतरी कुछ' का ही रूपान्तर है। हमारे समस्त कार्य, समस्त उपक्रम, समस्त प्रेरणाएँ, सहजावबोध, जीवन-हेतु, इच्छाशक्ति के निर्णय—सब वहीं से उद्भूत होते हैं। यह 'कुछ' कोई रहस्यमय अस्तित्व नहीं, हमारी महत्तर चेतना (Subliminal Self) ही है। चेतना के उच्चतर धरातल तक पहुँचने पर या इससे एकात्म हो जाने पर, अपने विचारों और भावनाओं के उद्गम तथा अपनी चेष्टाओं के आदिस्रोत हम सहज ही देख सकते हैं।[3]

पर, इस महत्तर चेतना तक पहुँचने के लिए सामान्य प्रतिबोधन या अन्तरावलोकन अपर्याप्त है। हमारी ज्ञान-क्षमता ज्ञातव्य के उपयुक्त होनी चाहिए। हमारी महत्तर चेतना को, जो असीम है, जानने के लिए ऐसे ज्ञान-स्रोतों की आवश्यकता है, जो सीमित पदार्थों का ज्ञान कराने वाले साधनों से भिन्न हों। उस अन्तरतम अतिभौतिक चेतना का ज्ञान किसी श्रेष्ठतर तर्क या श्रेष्ठतर मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त द्वारा ही

1. Sri Aurobindo; The Life Divine, Vol. 2, p. 632.
2. Do Do p. 632.
3. Ibid, p. 634.

सम्भव है। सहजज्ञान (Intuition), जो सामान्य अन्तरावलोकन का ही उच्चतर विकसित रूप है, ऐसा ही एक सिद्धान्त है। अतः, अन्तिम सत्य को जानने के लिए, ऐसे श्रेष्ठतर सिद्धान्त को दार्शनिक खोज के आवश्यक उपादन के रूप में स्वीकृत किया जाना चाहिए। भारतीय मनोविज्ञान 'ज्ञाता' के विकास तथा उसकी पात्रता पर जो इतना वल देता है, वह अवैज्ञानिक नहीं है। विज्ञान में भी, वैज्ञानिक की विशिष्ट निरीक्षण-क्षमता अपेक्षित होती है।

हमारे भीतर की महत्तर चेतना, जाग्रदवस्था की चेतना से उच्चतर है और जागतिक पदार्थों एवं प्राणियों से प्रत्यक्ष तथा सीधा सम्पर्क स्थापित करने की शक्ति रखती है। यह शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध की सूक्ष्म शक्ति से सम्पन्न है। ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिसे यह विम्ब-रूप में न देख सके अथवा जिसे ऐन्द्रिय संवेदन में न वदल सके। दूर-दृष्टि, सम्मोहन, वशीकरण, विचार-संक्रमण (Telepathy) आदि अति प्राकृत शक्तियाँ वस्तुतः इस अन्तर्मन या अन्तश्चेतन की शक्तियाँ हैं, वाह्यचेतन की नहीं। वाह्यचेतन में जो वे कभी-कभी दिखाई पड़ जाती हैं, वह उन छिद्रों या दरारों के कारण, जो इन दोनों के वीच अहं द्वारा खड़ी की गई दीवार में हैं।[1] इस सम्पर्क की साधना में उसे किसी माध्यम की आवश्यकता नहीं होती; उसकी आत्म-अन्तर्दृष्टि उन्हें सीधे, स्वयमेव जान लेती है। इसके द्वारा हम अपने चारों ओर के प्राणियों के विचारों, उनकी भावनाओं और व्यक्तियों पर परस्पर पड़ने वाले उन विचारादि के प्रभावों तथा उनके आगमन का सीधा ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। उन सब लोगों के मध्य, जो साथ रहते हैं, या मिलते-भिड़ते हैं, एक सूक्ष्म शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक आदान-प्रदान चलता रहता है।[2]

इतना ही नहीं, यह महत्तर चेतना हमें इस योग्य भी वनाती है कि हम, विश्व में व्याप्त व्यक्तित्वहीन (Impersonal) शक्तियों के प्रति आकृष्ट होकर उनका सीधा ज्ञान प्राप्त कर सकें। हम निरन्तर ऐसी अदृश्य प्राण शक्तियों एवं मनःशक्तियों के वीच रहते हैं, जिनके वारे में हम कुछ नहीं जानते, जिनके अस्तित्व का भी हमें पता नहीं है। उनकी इस समस्त अदृश्य हलचल के प्रति हमारी यह अन्तश्चेतना हमें जाग्रत बना देती है; क्योंकि उसे इसका ज्ञान अन्तर्दृष्टि तथा परोक्ष सम्पर्क से प्राप्त होता है। वह अन्तर्व्यक्तित्व इन ब्रह्माण्ड-शक्तियों के न केवल वर्त्तमान कार्य-कलापों को देखता एवं उनके फल की अनुभूति करता है, अपितु किसी सीमा तक उनके भावी व्यापारों का भी अनुमान कर लेता है। समय की सीमा पर वह सहज ही विजय प्राप्त कर लेता है। फलतः, वह आने वाली घटनाओं को सूँघ सकता है और झाँक-कर भविष्य में भी देख सकता है।[3] यह सब कुछ सम्भव है; क्योंकि ज्ञाता तथा ज्ञेय

1. Sri Aurobindo; The Life Divine, Vol. 2. p. 637.
2. Ibid, p. 640.
3. Ibid, p 647.

में एक ही चेतना व्याप्त है। ज्ञान की यह गुप्त-निगूढ़ पद्धति हमारी आज की मनः स्थिति को धूमिल तथा अस्पष्ट प्रतीत होती है। पर, जब हमारी महत्तर चेतना, अपने अहं की सीमाओं का त्याग कर, ब्रह्माण्ड-चेतना से तादात्म्य कर लेती है, तब वह स्वतः उज्ज्वल और स्पष्ट हो उठती है।

महत्तर चेतना में, चाहे वह ब्रह्माण्ड-चेतना से तादात्म्य की स्थिति में ही क्यों न हो, उच्चतर ज्ञान की ही प्राप्ति होती है, पूर्ण और मौलिक ज्ञान की नहीं।[2] यह देखने के लिए कि अपने विशुद्धतम रूप मे तादात्म्य ज्ञान कैसा है, वह किस प्रकार उद्भूत होता है तथा किस प्रकार अन्य ज्ञान-स्रोतों का उपयोग करता है, हमें अन्तश्चेतन, अर्थात् महत्तर चेतना के दो अन्य छोरों—अधिचेतन (Subconscient) तथा अधिचेतन (Superconscient) तक जाना पड़ता है। अधिचेतन, अपने रहस्य हमारे सम्मुख नहीं खोलता: क्योंकि तादात्म्य-रूप होते हुए भी, उसका ज्ञान, प्रकाश-रूप न होकर, अन्धकार-रूप है। पर, उच्चतम अतिचेतन की श्रेणियाँ, मुक्त और ज्योतिर्मय आध्यात्मिक चेतना पर आधृत हैं। यहीं पहुँचकर हम ज्ञान की मूल शक्ति के दर्शन कर सकते हैं तथा ज्ञान की दो पृथक् श्रेणियों—तादात्म्य ज्ञान और सभेद ज्ञान के अन्तर को देख सकते हैं। वहाँ हम पाते हैं कि सत्ता (Being) और चेतना एक ही है।[2] सर्वोच्च कालातीत सत्ता (ब्रह्म) में चेतना कोई पृथक् सत्ता नहीं है; सत्ता में निहित विशुद्ध स्व-प्रतीति है; क्रिया नहीं दशा है। यहाँ ज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं है; सत्ता अपने निकट आत्मज्ञात है। यह जानने के लिए कि 'मैं हूँ', उसे अपने पर दृष्टि नहीं डालनी पड़ती। उसके लिए वह सब कुछ स्व-प्रकट है; क्योंकि सब कुछ उसी में है। यही काल-सापेक्ष सत्ता (आत्मा) के सम्बन्ध में भी सत्य है। इसे यदि ब्रह्माण्ड-सत्ता पर घटित किया जाय, तो हम देखेंगे कि आत्मचेतना के भीतर ही ब्रह्माण्ड-चेतना की प्रतीति हो रही है। यही पूर्ण (Integral) ज्ञान की स्थिति है—पूर्ण ज्ञान, जो केवल तादात्म्य (Identity) द्वारा ही प्राप्त होता है।

निष्कर्ष :

1. प्रमा, अर्थात् सत्य ज्ञान की प्राप्ति सम्भव है। संशयवादियों की भाँति ज्ञान की प्राप्ति में किसी प्रकार का सन्देह अरविन्द को नहीं है। उनकी तो मान्यता है कि पूर्णता की सीमा तक ज्ञान की प्राप्ति सम्भव है। पूर्ण ज्ञान, केवल तादात्म्य द्वारा ही सम्भव है।

2. केवल तादात्म्य ही प्रमाण है। अन्य साधनों से भी ज्ञान की प्राप्ति होती है, पर वह आंशिक ज्ञान होता है, समग्र ज्ञान नहीं। अन्य साधनों से प्राप्त होने वाले

1. Shri Aurobindo; The Life Divine Vol. 2, p. 647.
2. Ibid, p. 653.

ज्ञान की सापेक्षिक प्रामाणिकता, चेतना के धरातल की उच्चता के अनुपात में होती है।

3 चेतना के अनेक धरातल हैं, जिनमें तीन धरातल प्रमुख हैं। निम्नतम धरातल 'बाह्यचेतन' है। यह हमारी चेतना का सामान्य धरातल है। इन्द्रियाँ, मनस्, बुद्धि तथा सामान्य अन्तरावलोकन की क्रियाएँ इसी धरातल से निष्पन्न होती हैं। मानव का समस्त ज्ञान वहिर्मुख ही रहता, यदि उसके बाह्यचेतन में, अन्तरावलोकन की शक्ति नहीं होती। यह अन्तरावलोकन ही उच्चतर एवं समग्र ज्ञान की कुंजी है।

4. बाह्य चेतना से ऊपर महत्तर चेतना का धरातल है। यहाँ से सहज ज्ञान (Intuition) की क्रिया सम्पन्न होती है। सहज ज्ञान, अन्तरावलोकन की ही समुचित विकास-प्राप्त दशा है। सक्रिय हो जाने पर यह चेतना, वस्तुओं, प्राणियों एवं घटनाओं का वास्तविक सत्य ज्ञान, विना किसी मध्यस्थता के, सीधे (Directly) स्वयमेव प्राप्त कर लेती है। यह अनेकानेक अलौकिक शक्तियों से सम्पन्न है।

5. महच्चेतन से ऊपर 'अतिचेतन' का धरातल है। यहाँ ज्ञाता की ज्ञेय के साथ तादात्म्य-अवस्था से पूर्ण एवं समग्र ज्ञान की प्राप्ति होती है। यहाँ सत्ता और चेतना का ऐकात्म्य दिखाई पड़ता है।

6. ज्ञान दो प्रकार का है : अभेद तथा सभेद। अभेद ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय के पूर्ण ऐकात्म्य या तादात्म्य से उत्पन्न होता है। सभेद ज्ञान में ज्ञाता और ज्ञेय की पृथक् स्थिति बनी रहती है। ज्ञाता का ज्ञेय के साथ सम्पर्क कैसा है, इस दृष्टि से, सभेद ज्ञान के दो वर्ग है : प्रत्यक्ष सम्पर्क-जन्य तथा अप्रत्यक्ष सम्पर्क-जन्य। इनमें से प्रथम, अर्थात् प्रत्यक्ष सम्पर्क-जन्य ज्ञान भी, सम्पर्क की घनिष्ठता की दृष्टि से दो भागों में विभक्त है : गहन प्रत्यक्ष सम्पर्क-जन्य तथा तटस्थ प्रत्यक्ष सम्पर्क-जन्य। ज्ञानस्रोत की भिन्नता की दृष्टि से, द्वितीय भी दो श्रेणियों में विभक्त है : तर्क-जन्य तथा इन्द्रिय-जन्य। चित्र द्वारा इस वर्गीकरण को इस प्रकार रखा जा सकता है :
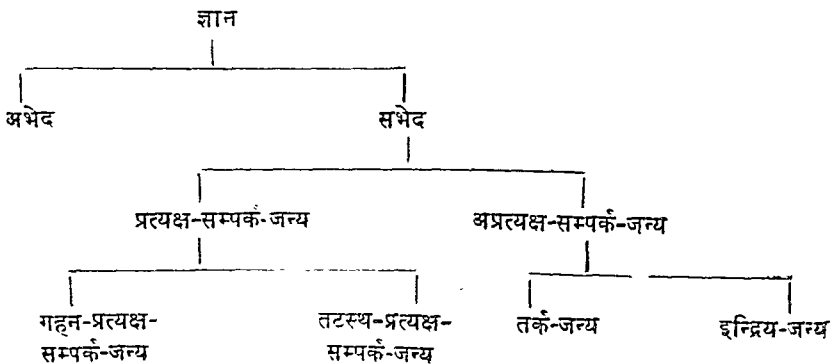
7. भारतीय दर्शन में साधारणतया स्वीकृत प्रमाणों—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द को यदि इस वर्गीकरण में स्थान दिया जाय, तो प्रथम तीन प्रमाण, 'अप्रत्यक्ष सम्पर्क-जन्य' ज्ञान के उत्पादन के कारण हीन महत्त्व के अधिकारी होंगे। 'शब्द' को अवश्य 'अभेद' ज्ञान का जनक होने के कारण शीर्षस्थान प्राप्त होगा।

समीक्षा :

अरविन्द-दर्शन पर किये जाने वाले आक्षेप एक निश्चित सीमा तक कम हो जाते हैं, यदि पाश्चात्य तथा भारतीय मनोविज्ञान का अन्तर समझ लिया जाय। पाश्चात्य मनोविज्ञान एक प्रकृत (Natural) विज्ञान है। मानव-चेतना का अध्ययन वह उसके वर्त्तमान रूप में ही करता है। चेतना के केवल है' से उसका सम्बन्ध है। दूसरी ओर, भारतीय मनोविज्ञान न तो प्रकृत विज्ञान है और न वैधिक विज्ञान ही। उसमें न तो चेतना का 'है' प्रधानता पाता है और न उसका 'चाहिए'। वह तो इन दोनों का समाहार करने वाला, चेतना के विकास का विज्ञान है। वह मानव-चेतना के न केवल वर्त्तमान रूप पर विचार करता है, अपितु, इससे आगे बढ़कर, भविष्य में हो सकने वाले इसके सम्भाव्य विकास तथा उस विकास की प्राप्ति में योग देने वाले उपायों का भी अध्ययन करता है।

भारतीय मनोविज्ञान, मानव-चेतना को केवल जाग्रदवस्था की प्रयोगसिद्ध क्रियाओं तक सीमित नहीं मानता, उसे उसकी समग्रता में ही स्वीकार करता है। यहाँ के प्राचीन मनोविज्ञान ने चेतना के तीन धरातल स्वीकार किये थे : जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति। इन्हीं को क्रमशः अन्नमय, प्राणमय और विज्ञानमय पुरुष कहा गया था। हमारी सतही जाग्रदवस्था हमारे व्यक्तित्व का एक बहुत छोटा भाग है। इसलिए वह हमारे स्वरूप के मूल स्रोतों का पता देने में असमर्थ है। ये मूल स्रोत हमारे भीतर गहरे छिपे हैं। मन की स्वप्नावस्था (The subconscient) तथा सुषुप्ति-अवस्था (The Inconscient) के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर उन मूल स्रोतों का पता लगाना, तथा यथासम्भव, मानव की समृद्धि में उनका समुचित उपयोग करना ही वैज्ञानिक मनोविज्ञान है। भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में, प्रकृति की गुप्त-अन्तर्निहित शक्तियो का उद्घाटन इस सम्भावना के भी द्वार खोल देता है कि मनुष्य अपने उत्थान तथा विकास के लिए उन शक्तियों का उपयोग कर सके। ठीक इसी प्रकार, चेतना की अन्तःशक्तियों का उद्घाटन भी मनुष्य के आध्यात्मिक विकास को अग्रसर करने के लिए उपयोगी बनाया जाना चाहिए।

अब तो फ्रॉयड, जुंग आदि पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने भी स्वीकार कर लिया है कि जाग्रत् चेतना, हमारी समग्र चेतना का एक स्वल्प भाग है, जिस प्रकार पानी

में तैरते हुए बरफ का एक बहुत ही छोटा भाग सतह के ऊपर रहता है। प्रश्न उठता है कि हमारा अन्तर्व्यक्तित्व अर्द्ध चेतन है या अचेतन ? अरविन्द का कहना है कि यदि वह अचेतन है, तब तो उसका ज्ञान प्राप्त करना, उसका प्रकाशित होना असम्भव है, क्योंकि प्रकाश वहाँ कोई नहीं है; यदि वह अर्द्ध चेतन या आवरित चेतना से युक्त है, ऐसी चेतना से जो हमारी जाग्रत् चेतना से अधिक महान्, अधिक शक्ति-सम्पन्न है, तो आत्मविकास की सम्भावनाओं का एक सीमाहीन विस्तार हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है और मानव-जाति अनन्त सम्भावनाओं की दिशा में गतिशील हो सकती है। मनोविज्ञान, जो हमारे अन्तर्व्यक्तित्व को अचेतन मानकर अग्रसर होता है, वस्तुतः मनोविज्ञान न होकर, शरीर-क्रियाविज्ञान (Physiology) का ही विस्तार है। ऐसा मनोविज्ञान चेतना को, अचेतन पर अचेतन के कार्य का परिणाम मानता है। मनस् उसके लिए ज्ञानतन्तुओं की प्रतिक्रियाओं का लेखा-मात्र है। पर, मनोवैज्ञानिक शोध की एक और भी दिशा है, जिसने हमें आत्मिक अनुसन्धान की नई भूमि पर पहुँचाया है। विचार-संक्रमण (Telepathy), वशीकरण आदि विचित्र मनःस्थितियाँ एक महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर संकेत करती हैं कि हमारा अन्तश्चेतन सचेतन है, अचेतन नहीं। भारत का प्राचीन मनोविज्ञान इसी सत्य पर पहुँचा था।

पश्चिम में, पहले-पहल सन् 1886 ई० में जब फ्रेडरिक डब्ल्यू० एच्० मेअर्स ने अचेतन मन (The Unconscious Psyche) का पता लगाया, तब वहाँ के मनोवैज्ञानिक जगत् में बड़ी हलचल मची। विलियम जेम्स ने इस खोज का बड़े प्रशंसात्मक शब्दों में उल्लेख किया है।[1] मेअर्स की खोज का निष्कर्ष यह था कि अपने केन्द्र के चतुर्दिक् हमारी सामान्य चेतना का तो एक वृत्त है ही, उसके अतिरिक्त तथा उससे बिलकुल ही बाहर-स्मृतियों, विचारों तथा अनुभूतियों से लदा एक और भी वृत्त है, जो सामान्य चेतना-क्षेत्र से बाहर होने पर भी, एक प्रकार की चेतना से युक्त है। सी० जी० जुंग ने लिखा है कि यह खोज युगान्तरकारी है और विश्व के प्रति हमारे दृष्टिकोण में व्यापक परिवर्त्तन करने वाली है। यदि इस अन्तश्चेतना द्वारा ग्रहण किये गये प्रतिबोधन हमारी जाग्रत् चेतना में ले आये जाँय, तो हमारे मानसिक क्षितिज का सीमाहीन विस्तार हो जाय।[2]

इसी प्रकार जेनेट तथा फ्रॉयड, दोनों की गवेषणाएँ इस निष्कर्ष पर पहुँचती हैं कि इस अचेतन 'साइकी' में, प्रतिबोधन, चिन्तन, अनुभूति, इच्छा, प्रवृत्ति आदि यों होती रहती हैं, मानों कोई सचेतन सत्ता वहाँ उपस्थित हो। फ्रॉयड ने जाग्रत् चेतना के परे एक आत्मिक कारागार (Limbo) की कल्पना की है, जहाँ भूली-बिसरी या दमित वासनाएँ जाकर क़ैद हो जाती हैं। इन वासनाओं का कभी-कभी जाग्रत

1. Varieties of Religious Experience, p. 233.
2 C G. Jung : The Spirit of Psychology, Sec. VIII.

चेतना में आ उपस्थित होना इस बात का स्पष्ट संकेत है कि जिसे 'अचेतन' माना जाता है वह वस्तुतः अर्द्ध चेतन है।

पश्चिम में मनोविज्ञान के क्षेत्र में किये गये नूतन प्रयोगों ने चेतना की समग्रता एवं व्यक्तित्व की एकता की स्थापना कर, पाश्चात्य और भारतीय मनोविज्ञान के अन्तर को कम कर दिया है। परिणामस्वरूप, भारतीय मनोविज्ञान तथा दर्शन को 'रहस्यवाद' की संज्ञा देने की पश्चिम की प्रवृत्ति भी धीरे-धीरे कम होती जा रही है। वस्तुतः, भारतीय मनोविज्ञान के लिए प्रयोगसिद्ध (Empirical) तथा वास्तविक (Real) में कोई अन्तर नहीं है; क्योंकि जिस प्रकार प्रयोगों द्वारा जाग्रत् चेतना की क्रियाएँ ज्ञेय हैं, उसी प्रकार अन्तरावलोकन तथा उसके विकसित रूप – सहजज्ञान द्वारा चेतना के उच्चतर स्तर भी अनुभूतिगम्य हैं। यह बात अवश्य है कि उनकी अनुभूति बाहर की नहीं, भीतर की प्रयोगशाला में होती है और उसके लिए अनुकूल प्रशिक्षण एवं योग (Discipline) की अपेक्षा रहती है। धीरे-धीरे, हमारी समग्र चेतना की नियामिका शक्ति, जिसे भारतीय मनोविज्ञान 'आत्मा' की संज्ञा देता है; सहज ही स्वानुभूति की परिधि में आ जाती है। इस प्रकार, भारतीय मनोविज्ञान में 'आत्मा' कोई रहस्यवादी तत्त्व नहीं है, हमारी मूल अन्तरतम चेतना है।

हमारी जाग्रत् चेतना के सामान्य क्रिया-व्यापार से हटकर होने वाली उच्चतर अनुभूतियों को कल्पना, व्यामोह, मानसिक रोग आदि की संज्ञा देना वस्तुतः हमारी भौतिक दृष्टि तथा कट्टर अविश्वास का परिणाम है। यह इस बात का सूचक है कि हम चेतना के केवल बाह्य रूप में ही विश्वास रखते हैं और आन्तरिक चेतना के उच्चतर धरातलों की ओर से आँख मूंदे रहते हैं। पर, मनोविज्ञान के क्षेत्र में जो नूतन स्थापनाएँ हो रही हैं, उनसे हम कब तक आँख मूँदेंगे ? कार्ल गुस्ताव जुंग द्वारा निरूपित व्यक्तित्व का 'केन्द्र', जो जीवन की समस्त अनुभूतियों का सचालन करता है, योगसाधना के आत्मा-सिद्धान्त से अधिक दूर नहीं है।

'साइकी' से जुंग का अभिप्राय उन समस्त क्रियाओं से है, जो स्वेच्छा (Will) के प्रभाव में लाई जा सकें। नीचे की ओर उसका सीमान्त वहाँ है, जहां क्रिया, पशु-वृत्ति (Instinct) से मुक्त होकर स्वेच्छा के शासन में आ जाती है और ऊपर का सीमान्त वहाँ है, जहाँ वह स्वयं को आध्यात्मिक रूप में घुला देती है—ऐसे रूप में, जिसके सम्बन्ध में हम कुछ नहीं जानते। पर, स्वेच्छा या इच्छा-शक्ति केवल व्यय होने वाली शक्ति है, जो व्ययकर्त्ता की सत्ता पहले से ही स्थापित कर देती है—व्यय-कर्त्ता, जिसमें निर्णय लेने का सामर्थ्य है, अतः जो चेतना से युक्त है।

'साइकी' को जुंग ने अद्भुत शक्ति का स्रोत माना है – वैसा ही जैसा, अरविन्द ने महच्चेतना (Subliminal) को माना है। उसने उसे विश्व की चूलिका

(Pivot) कहा है। यह मानसिक शक्ति विश्व की स्थिति का एक प्रमुख कारण, वर्त्तमान प्रकृत व्यवस्था में हस्तक्षेप कर उसे तितर-वितर करने वाली तथा सन्तुलन खो देने पर अपनी समस्त सृष्टि का विनाश कर देने वाली है। व्यक्ति ही नहीं, समाज का भी सन्तुलन बनाये रखने के लिए उसके तत्त्वों का सावधानी से चिन्तन होना चाहिए, अन्यथा जिस प्रकार भौतिक क्षेत्र में अणुबम अपूर्व ध्वंस का साधन है, उसी प्रकार मनःक्षेत्र में 'साइकी' अद्‌भुत ध्वंस की क्षमता रखती है। आज की स्थिति इतनी अमंगलप्रद है कि यह शंका बार-बार सिर उठाती है—कहीं ईश्वर, मनुष्य की वर्त्तमान जाति (Race) का अस्तित्व मिटा देने वाली किसी प्रलय की योजना तो नहीं बना रहा है।[1] 'साइकी' व्यक्ति और विश्व मे मनचाहा परिवर्त्तन ला सकती है। पर, यह इस बात पर निर्भर करता है कि व्यक्तिगत साइकी की विकास-क्षमता किस सीमा तक है। सम्प्रति, हम इतना ही जानते हैं कि कुछ व्यक्ति ऐसी क्षमता वाले हैं अवश्य। पर, उनकी कुल संख्या कितनी है, हम नहीं जानते और न ही यह जानते हैं कि व्यक्तिगत 'साइकी' के विकास की अन्तिम सीमा कहाँ है और कि वह विश्व पर कितना प्रभाव डाल सकती है।

लोग एकाएक विश्वास भी नहीं करेंगे कि पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक कार्ल गुस्ताव जुंग ऐसी बातें लिख सकता है। पर, यह सब कुछ उसी की लेखनी से निकला है। वस्तुतः, अपने जीवन-काल के अन्तिम वर्षों मे, चिन्तन की जो उपलब्धि जुंग को हुई, उसकी परिणति उसके आत्मा-सिद्धांत में होकर रही। जुंग की इस अलौकिक शक्ति-सम्पन्न 'साइकी' तथा अरविन्द की 'महच्चेतना' को पास-पास रखकर देखें, तो पहचान करने में कदाचित् भूल हो जाय। स्थूल, भौतिक तथा वहिर्मुख दृष्टि का जितना रहस्यवाद अरविन्द की महच्चेतना (Sublimimal) में दिखाई पड़ता है, उससे कम जुंग की 'साइकी' में नहीं मिलेगा। वस्तुतः, यह रहस्यवाद नहीं है, शेखचिल्ली की कल्पना नहीं है; यह विशुद्ध स्वानुभूति है। यह प्रत्येक ऐसे व्यक्ति की अनुभूति हो सकती है, जो उसे प्राप्त करने के लिए इच्छित प्रयत्न करे। अन्यथा, तर्क और इन्द्रिय-प्रत्यक्ष न होने मात्र से, किसी सत्ता के अस्तित्व को अस्वीकृत कर देना, केवल पूर्वाग्रह या दुराग्रह ही हो सकता है और इस दृष्टि से तो विज्ञान की भी अनेकानेक शोधें 'रहस्यवाद' के अन्तर्गत आ जायेंगी।

न केवल जुंग, अपितु 'संघटन-सम्प्रदाय' (Organismic School) के ढेर सारे वर्त्तमान मनोवैज्ञानिकों (गोल्डस्टीन, अग्याल, मैस्लो, लैकी, आलपोर्ट, मरे, मर्फी) आदि की विचारधारा अरविन्द के समग्र (Integral) योग की धारणा से मेल खाती है। अरविन्द के अनुसार, हमारी चेतना के सभी धरातलों—जिसमें तथाकथित जड़

---

1. C. G. Jung ; This is my Philosophy, Edited by Whit Burnett, P. 129.

पदार्थ की चेतना का धरातल भी सम्मिलित है—का समन्वित रूप ही हमारा वास्तविक व्यक्तित्व है। 'संघटन-सम्प्रदाय' के मनोवैज्ञानिक भी व्यक्तित्व की समग्रता के हामी हैं। व्यक्तित्व को वे एक और अखण्ड मानते हैं। सत्रहवीं शती में देकार्त्ते ने, प्राणी को दो परस्पर प्रभावित करने वाले पृथक् खण्डों—शरीर तथा मनस् में विभक्त कर दिया था। आगे चलकर 19वीं शती में वुण्ट ने उसे संवेदनों, बिम्बों और अनुभूतियों के छोटे-छोटे टुकड़ों में बिखेर दिया। तब से अब तक लगातार इस बात के प्रयत्न हो रहे हैं कि व्यक्तित्व की एकता की पुनःप्रतिष्ठा हो। ऐसा ही एक प्रयत्न इन संघटनवादियों का है।

संघटनवाद का मूलभूत सिद्धान्त यह है कि मनुष्य का व्यक्तित्व एक मनोभौतिक (Psycho-physical) इकाई है कि जिसके अंशी तथा अंश परस्पर अविभाज्य हैं। इस घट-मनस् इकाई का अध्ययन शरीरशास्त्री एक दृष्टि से, मनोवैज्ञानिक दूसरी दृष्टि से, समाजशास्त्री या कि नृतत्त्वशास्त्री तीसरी दृष्टि से कर सकता है। पर, इस प्रकार ऐकान्तिक दृष्टि से, इनमें से कोई भी उसका ठीक-ठीक अध्ययन नहीं कर सकता। इसीलिए, संघटन का सिद्धान्त व्यक्तित्व की समग्रता पर बल देता है। इस समग्रवादी दृष्टिकोण के ही कारण उसकी यह भी मान्यता है कि व्यक्ति के अनेकानेक कार्यों के मूल में एक ही शक्ति कार्यशील रहती है।[1] मैकडूगल ने चौदह पशु-वृत्तियाँ (Instincts) मानी थीं, पर 'आत्मरक्षण' (Self-preservation) के अन्तर्गत उन सब का समाहार हो गया था। बर्गसाँ ने उस मूल प्रेरणा को 'इलान् वाइटल' का नाम दिया। इसी प्रकार संघटन-स्कूल भी एक ही मूलभूत प्रेरणा में आस्था रखता है। स्कूल के प्रतिष्ठापकों में एक डॉ० कुर्ट गोल्डस्टीन ने उस मूल प्रेरणा को 'आत्मप्राप्ति' (Self-realisation) नाम दिया है। आत्मप्राप्ति की अवधारणा यह मानकर चलती है कि मनुष्य के भीतर एक ऐसी जन्मजात वृत्ति कार्यशील रहती है, जो व्यक्ति को अपनी आत्मगत क्षमताओं की दिशा में सहज ही अग्रसर करती है। परिणाम यह होता है कि वातावरण में से प्राणी उन्हीं स्थितियों का चयन करता है, जो उसे आत्मप्राप्ति की दिशा में अग्रसर कर सकें। यान्त्रिक विकासवाद के विरुद्ध, गोल्डस्टीन विकास का मूल कारण प्राणी के भीतर ढूँढ़ता है, बाहर के वातावरण में नहीं। उसका आत्मप्राप्ति का यह सिद्धान्त, अरविन्द के 'लीला-सिद्धान्त' के समानान्तर प्रवाहित होता है।

---

1. Calvin S. Hall & Gardner Lindzey : Theories of Personality, P. 196, John Wiley & Sons, Newyork, 1957.

4 अरविन्द-दर्शन

प्रचण्ड वैज्ञानिक आविष्कारों के इस युग में जब बाह्य जीवन विद्युत् एवम् अणु-शक्ति की टाँगों पर बड़ी तीव्र गति से धावित हो रहा है, हमारी अन्तश्चेतना, प्रायः उपेक्षित रहने के कारण, चींटी की भाँति रेंगती हुई बहुत पीछे छूट गई है। चन्द्रलोक और मंगल-लोक पर पहुँच रहा मानव आज भी जाति, वर्ग, धर्म, देश, भाषा आदि तथाकथित संस्कृति की संकीर्णताओं से घिरा है। मनुष्य के बाह्य जीवन व अन्तश्चेतना का यह व्यापक अन्तराल उसके आज के दुःख, द्वन्द्व, नैराश्य, विक्षोभ विग्रह और युद्ध का कारण है क्योंकि उसकी अल्पविकसित चेतना विकसित भूत-शक्ति के दुर्दम दानव का संचालन करने में अपने आपको असमर्थ पा रही है। अतः युग की प्राथमिक आवश्यकता पिछड़ी हुई मानव-चेतना का संस्कार कर भौतिक एवम् आध्यात्मिक जीवन में समत्व स्थापित करने की है। ऐसा यदि किया जा सके, तो सम्भव है, कठिनलोक-श्रम द्वारा अर्जित सम्पदा विश्व-युद्धों की विभीषिका में न झोंकी जाकर सब में समान रूप से वितरित होने लगे और किसी सीमा तक सन्तापित मानवता का मुख उज्ज्वल हो सके। इसी व्यापक पृष्ठभूमि में अरविन्द का दर्शन अपनी समसामयिकता चरितार्थ करता है।

कोई भी दार्शनिक पद्धति हो, उसमें ज्ञानमीमांसा का अपना महत्वपूर्ण स्थान होता है क्योंकि तत्वमीमांसा और मूल्यमीमांसा के ढाँचे उसी पर आधृत होते हैं। प्रमा अर्थात् सत्य ज्ञान तक पहुँचाने वाले प्रमाणों का व्यापक विवेचन ही ज्ञानमीमांसा है। महर्षि अरविन्द के तत्सम्बन्धी निष्कर्ष इस प्रकार हैं—

१. प्रमा अर्थात् सत्य ज्ञान की प्राप्ति सम्भव है। संशयवादियों की भाँति ज्ञान की प्राप्ति में किसी प्रकार का सन्देह अरविन्द को नहीं है। उनकी तो मान्यता है कि पूर्णता की सीमा तक ज्ञान की प्राप्ति सम्भव है।

२. पूर्ण ज्ञान केवल तादात्म्य द्वारा ही सम्भव है। शारीरिक संवेदन, इन्द्रिय, मन, बुद्धि एवम् सहजज्ञान से भी ज्ञान की प्राप्ति होती है पर वह आंशिक ज्ञान होता है, पूर्ण ज्ञान नहीं। इन साधनों से प्राप्त होने वाले ज्ञान की सापेक्षिक प्रामाणिकता चेतना के धरातल की उच्चता के अनुपात में होती है।

३. चेतना के तीन मुख्य धरातल हैं जिनमें से निम्नतम धरातल वाह्य चेतन का है। इन्द्रियाँ, मन तथा सामान्य अन्तरावलोकन की क्रियाएँ इसी धरातल से निष्पन्न होती हैं।

४. वाह्यचेतन के ऊपर महच्चेतन का धरातल है जहाँ से सहज ज्ञान की क्रिया सम्पन्न होती है। सहजज्ञान सामान्य अन्तरावलोकन की ही विकास-प्राप्त दशा है और इसे विकसित करने का साधन है योग। यह चेतना वस्तुओं प्राणियों एवम् घटनाओं का सत्य ज्ञान बिना किसी मध्यस्थता के सीधे, स्वयमेव प्राप्त कर लेती है।

५. महच्चेतन के ऊपर अतिचेतन का धरातल है जहाँ ज्ञाता की ज्ञेय के साथ तादात्म्य-अवस्था में पूर्ण एवम् समग्र ज्ञान की प्राप्ति होती है।

अरविन्द के इस महच्चेतन और अतिचेतन पर अनेक लोग प्रश्न-चिन्ह लगाते हैं। उनका कहना है कि मनुष्य की वर्तमान चेतना ही चेतना का अन्तिम विकास है और कि महच्चेतन और अतिचेतन कपोल-कल्पना मात्र हैं। इस प्रश्न का समाधान करने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि पाश्चात्य मनोविज्ञान एक प्रकृत विज्ञान है और मानव-चेतना का अध्ययन वह उसके वर्तमान रूप में ही करता है। दूसरी ओर, भारतीय मनोविज्ञान चेतना के विकास का विज्ञान है और वह मानव-चेतना के वर्तमान रूप से आगे बढ़ कर, भविष्य में हो सकने वाले उसके सम्भाव्य विकास तथा उस विकास की प्राप्ति में योग देने वाले उपायों का भी व्यापक अध्ययन करता है।

इस बारे में तो पाश्चात्य एवम् भारतीय—सभी मनोवैज्ञानिक एकमत हैं कि हमारी वाह्य चेतना हमारी समग्र चेतना का एक अत्यन्त अल्प अंश है। अन्तर है तो हमारी चेतना, अंतश्चेतना के स्वरूप को लेकर, जिसके दोनों ही ओर के मनोवैज्ञानिकों ने सुविधा के लिये दो-दो भेद कर लिये हैं। पश्चिम ने उन्हें 'अर्द्धचेतन' और 'अचेतन' नाम दिये हैं तथा हमारे यहाँ वे 'स्वप्न' और 'सुषुप्ति' कहलाये हैं। अरविन्द प्रश्न उठाते हैं कि चेतना के इन तीनों धरातलों का नियमन करने वाला हमारे व्यक्तित्व का केन्द्र-बिन्दु स्वयम् अचेतन है या सचेतन? यदि वह अचेतन है तब तो उसका ज्ञान प्राप्त करना, उसका प्रकाशित होना असम्भव है, क्योंकि प्रकाश

वहाँ कोई नहीं है। यदि वह अर्द्धचेतन या आवरित चेतना से युक्त है—ऐसी चेतना से जो हमारी जाग्रदवस्था की चेतना से अधिक महान्, अधिक शक्ति-सम्पन्न है तो आत्म-विकास की सम्भावनाओं का एक सीमाहीन विस्तार हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है। पाश्चात्य मनोविज्ञान जो हमारे अन्तः व्यक्तित्व को अचेतन मानकर चलता है, वस्तुतः मनोविज्ञान न होकर शरीर-क्रिया-विज्ञान (फिज़िऑलॉजी) का ही एक विस्तार (एक्स्टेंशन) है। यह मनोविज्ञान चेतना को, अचेतन पर अचेतन के कार्य का परिणाम मानता है और मन उसके लिये ज्ञान-तन्तुओं की प्रक्रियाओं का लेखा-मात्र है। पर इधर पाश्चात्य मनोविज्ञानवेत्ता विचार-संक्रमण (टेलीपैथी) तथा वशीकरण (हिप्नोटिज्म) पर किये गये अपने नवीन प्रयोगों के बाद इस धारणा के निकट आते दिखाई पड़ रहे हैं कि हमारे अन्तर्व्यक्तित्व का केन्द्र अचेतन न होकर सचेतन है अपने अन्तिम दिनों में प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक कार्ल गुस्ताव जुंग भी इसी दिशा में झुक गये थे। अपने ग्रन्थ 'दिस इज माय साइकॉलॉजी' (व्हिट वर्नेट द्वारा सम्पादित, पृष्ठ 129) में वह लिखते हैं—

"साइकी विश्व की चूलिका (पाइवट) है। यह मानसिक शक्ति विश्व की स्थिति का एक प्रमुख कारण, वर्तमान में हस्तक्षेप कर उसे तितर-बितर करने वाली तथा सन्तुलन खो देने पर समस्त सृष्टि का विनाश कर देने वाली है। वह व्यक्ति और विश्व में मनचाहा परिवर्तन ला सकती है। पर यह इस बात पर निर्भर करता है कि व्यक्तिगत 'साइकी' की विकास-क्षमता किस सीमा तक है। सम्प्रति मैं इतना ही जानता हूँ कि कुछ व्यक्ति ऐसी क्षमता वाले हैं अवश्य, पर उनकी कुल संख्या कितनी है, मैं नहीं जानता।"

जुंग की इस 'साइकी' तथा अरविन्द के 'महच्चेतन' को पास-पास रख कर देखें तो निश्चय ही दोनों में भेद करना कठिन होगा। इसी प्रकार फ्रांसीसी दार्शनिक बर्गसाँ भी वर्तमान मानव-चेतना के भावी विकास में आस्था रखते हैं और वह भी सहजज्ञान के माध्यम से। अन्तर इतना ही है कि उनका सहजज्ञान (इन्ट्यूशन) सहजावबोध (इन्स्टिक्ट) का विकसित रूप है न कि अन्तरावलोकन का।

"काल-प्रवाह के सत्य को जानने के लिये न केवल सहजावबोध को सहज ज्ञान के धरातल तक उठाना आवश्यक है अपितु दोनों का समन्वय करना भी अनिवार्य है। केवल तभी समग्र चेतना का स्वामी—भविष्य का महामानव—सम्भव है, उस ऊँचाई तक पहुँच सके जहाँ से वह सर्वथा नवीन क्षितिजों का विस्तार देखने में समर्थ हो। सहजज्ञान एवम् बुद्धि के आनुपातिक समन्वय की दृष्टि से भावी मानव-विकास की अनेक सम्भाव्य स्थितियों की कल्पना की जा सकती है।"[1]

१ क्रिएटिव इवॉल्यूशन, आर्थर मिचेल द्वारा अंग्रेजी में अनूदित, पृ० २९१।

अरविन्द-दर्शन की तत्वमीमांसा विकासवाद की चूल पर विवर्त्तित है। महर्षि ने अपने अभिनव विकासवाद में पूर्व और पश्चिम के विकास-सिद्धान्तों का सुन्दर समन्वय किया है। पश्चिम का विकासवाद बुद्धिवादी और सार्वभौम रहा है पर अध्यात्म के अभाव से पीड़ित रहा है। दूसरी ओर पूर्व का विकासवाद आध्यात्मिक और व्यक्तिनिष्ठ रहा है पर सार्वभौमता के तत्व से वञ्चित रहा है। अरविन्द ने इन दोनों अतिवादी दृष्टियों का समन्वय करते हुए एक पूर्ण (इन्टीग्रल) विकासवाद की प्रतिष्ठा की है ।

अरविन्द ने विकास को एक सरल रेखा में न मानकर पौराणिक कल्पों एवम् मन्वन्तरों के अनुकरण पर वृत्ताकार माना है। उनकी मान्यता है कि सृष्टि का सत्य सर्वत्र गोलाकारों में व्यक्त हुआ है। ऐसा मानने से वह 'प्रारम्भवाद' की कठिनाइयों से बच गये हैं। विकास को चक्रमूलक मानने के साथ साथ वह उसे सोपानमूलक भी मानते हैं जिससे उनके विकासवाद का स्वरूप एक ससोपान चक्र (एस्केलेटर) जैसा हो गया है। इसके अतिरिक्त वह जड़वाद में नहीं, चेतनावाद में, यन्त्रवाद में नहीं, हेतुवाद में तथा सातत्यवाद में नहीं, उत्क्रांतिवाद में विश्वास करता है ।

भूतवादी सिद्धान्त विकास-क्रम की व्याख्या करने में असमर्थ है। अरविन्द का कहना है कि भौतिक शक्तियों द्वारा 'पुद्गल' से 'प्राण' तथा 'प्राण' से 'मन' जैसी वस्तुओं का विकास होना असम्भव है। भूतवादियों का यह तर्क कि जैसे दो रंगहीन द्रवों के मिश्रण से तीसरा रंगीन द्रव निर्मित हो जाता है वैसे जड़ पुद्गल के किसी विशिष्ट अनुपात में मिश्रित होने से 'प्राण' उदित हो जाता है, अरविन्द को सारहीन प्रतीत होता है। उनका कहना है कि पुद्गल से अन्य भौतिक शक्ति भले ही उत्पन्न हो जाय जैसी परमाणु के विभंजन से होती है पर अचेतन से सचेतन का विकास तब तक सम्भव नहीं प्रतीत होता जब तक कि हम वेदान्त-दर्शन द्वारा प्रस्तुत किया गया सत्कार्यवादी हल नहीं स्वीकार कर लेते कि 'पुद्गल' में 'प्राण' तथा 'प्राण' में 'मन' पहले से ही अवस्थित है।

'पुद्गल' में पूर्वावसित यह चित्' सत्ता ही विकास-क्रम का नियमन करती है, कोई अन्ध भौतिक शक्ति नहीं। अरविन्द का यह 'चित्' सिद्धान्त वेदान्तियों के निष्क्रिय 'चित्' सिद्धान्त से थोड़ी भिन्नता रखता है। वेदान्त का विशुद्ध स्थितप्रज्ञ चैतन्य भला विश्व का सृजन करने कैसे जाता ? फल यह हुआ कि वहाँ विश्व की सृष्टि हुई ही नहीं और इस दृश्यमान जगत् की व्याख्या करने के प्रयत्न में वेदान्ती मायावाद में जा उलझे। अरविन्द के यहाँ सृष्टि भी उतनी ही सत्य है जितना स्वयम् 'चित्' सिद्धान्त। उनका तर्क है कि यदि स्वर्ण सत्य

है तो स्वर्ण से निर्मित भूषण कैसे असत्य हो सकता है ? वस्तुत: वेदान्तियों वाली कठिनाई से बचने के लिये अरविन्द ने 'चित्' को शक्ति का रूप भी माना। यह 'शक्ति' चित् से कोई पृथक् वस्तु नहीं, अपितु उसका स्वाभाविक धर्म है, जैसे दाहकता अग्नि का गुण है। यह चिच्छक्ति आवश्यकतानुसार सक्रिय या निष्क्रिय हो सकती है पर निष्क्रियता की दशा में भी उसकी सत्ता तो रहती ही है। काश्मीरी शैव दर्शन की चित् सत्ता—'परमशिव' भी चिर समाधिमग्न रहने के कारण निष्क्रिय है पर अरविन्द के 'पुरुषोत्तम' अभिव्यक्ति की सार्वभौम इच्छा के स्वामी हैं। विकास के मूल में कार्यशील 'सच्चित्' सत्ता को अरविन्द 'आनन्द' से विभूषित मानते हैं। यह सच्चिदानन्द सत्ता असीम शक्ति एवम् असीम गति के समुद्र के समान है।

अरविन्द विकास क्रम को यंत्रवादियों एवम् प्राणिशास्त्रियों की भाँति दिशाहीन एवम् लक्ष्यहीन नहीं मानते। उनके अनुसार विकास के पीछे एक निश्चित प्रयोजन है और वह है आत्मरूप की प्राप्ति। साथ ही वह सातत्यवाद में विश्वास न कर उत्क्रांतिवाद में विश्वास करते हैं। सातत्यवादी विकास तो अपने आप में एक अन्तर्विरोध है। विकास सदा उत्क्रांतिवादी होता है और निरन्तर नवीनताओं को जन्म देता रहता है—ऐसी नवीनताएँ जिनकी कल्पना भी हमारी तर्क-बुद्धि नहीं कर सकती—'तर्क' जो इसी विकास-प्रक्रिया की एक उपज है, सम्पूर्ण विकास-मार्ग की व्याख्या क्योंकर कर सकता है ? नदी के प्रवाह द्वारा तट पर छोड़ दिया गया कंकड़ नदी की धारा का, विशेषकर आगे का इतिहास कैसे बता सकता है ?

अरविन्द के विकास-क्रम में उत्क्रांति का स्वरूप आध्यात्मिक है। यों डार्विन के विकासवाद में भी एक प्राणी को दूसरे प्राणी की अपेक्षा अधिक विकसित माना गया है पर वहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि वह आध्यात्मिक दृष्टि से भी उच्चतर है। अलेक्ज़ेंडर ने अपने विकास की चरम परिणति एक दैवी अस्तित्व (डीटी) में की है पर वह अरविन्द के 'सच्चिदानंद' की भाँति आध्यात्मिक मूल्य इसलिये नहीं हो पाया कि वह मानव से विकसित व्यक्तित्व न होकर, केवल कुछ कठिनाइयों का उत्तर देने के लिये नितान्त ही ऊपर से थोपी गई वस्तु है। उसके विकासवाद का महत्व केवल इस बात में है कि उसने 'मन' से आगे की भी विकास-दशाएँ स्वीकार की हैं।

चिदानन्द सत्ता जो असीम गति और असीम शक्ति के समुद्र के समान है, उसमें एकाएक विविधता की लहरें उठने लगती हैं और सृष्टि का क्रम प्रारम्भ हो जाता है। अरविन्द से यदि पूछा जाय कि 'पूर्णकाम' सच्चिदानंद सत्ता में अन्ततः ये लहरें उठती ही क्यों हैं तो उनका उत्तर होगा—लीला के लिये। अभिव्यक्त होना उसका धर्म है, स्वभाव है। यह सच्चिदानंद सत्ता इस लीला में अनेक सोपानों से

होती हुई अपने 'चित्' तथा 'आनंद' रूप पर आवरण डालती चलती है और 'पुद्गल' की स्थिति तक पहुँचते पहुँचते ये दोनों रूप इतने आच्छादित हो जाते हैं कि सर्वथा लुप्त हुए जान पड़ते हैं। इन दो विलोम स्थितियों के वीच अवरोहण (इन्वॉल्यूशन) के अनेक सोपानों की कल्पना अरविन्द ने की है। यहाँ तक कि 'सच्चिदानंद' से मन की स्थिति के मध्य भी वे पाँच सोपानों की कल्पना कर वैठे हैं जिनका पारस्परिक अन्तर वताना भी उनके लिये कष्टकर हो गया है। मोटे रूप में, अवरोहण क्रम के चार प्रमुख सोपान हैं—अतिमानस, मानस, प्राण और पुद्गल।

आरोहण (इवॉल्यूशन) का क्रम अवरोहण के क्रम से ठीक विपरीत है। पुद्गल में स्थित लुप्त "चिदानन्द" सत्ता स्वयम् को आच्छन्न करने वाले आवरणों को क्रमशः दूर कर 'प्राण' तथा 'प्राण' से 'मन' की स्थिति को प्राप्त होती है। 'प्राण' तत्व के सोपान पर इन्द्रियाँ तथा 'मन' के सोपान पर तर्कमूला वुद्धि जीव की सहायता के लिये आ पहुँचती है। वुद्धि भौतिक पदार्थों के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करती है एवम् मनुष्य के ज्ञान-क्षेत्र के आयामों का विस्तार करती है। पर उसकी अपनी सीमायें भी हैं विश्लेपणमूला होने के कारण वह समग्र सत्य को ग्रहण नहीं कर पाती, उसके एक अंश को ही प्राप्त कर पाती है। अतः सृष्टि के सत्य को समझने के लिये वुद्धि से आगे वढ़ कर सहजज्ञान को विकसित करना आवश्यक हो जाता है। सृष्टि के वर्तमान चरण में, अरविन्द कहते हैं, कि अव वह समय आ गया है जव मानस अतिमानस के सोपान पर पहुँच रहा है।

इस उत्थान या आरोहण सिद्धान्त के साथ-साथ अरविन्द ऊपर से अतिचेतना के अवतरण के सिद्धान्त में भी विश्वास करते हैं। उनका कहना है कि पुद्गल, प्राण, मन आदि की चेतना का तो उत्कर्प होता ही है, दिव्य चेतना ऊपर से भी नीचे की ओर अवतरित होती है। अपने अवतरण के लिये वह कुछ विशिष्ट विकसित व्यक्तियों को चुनती है और वहाँ से शेप सृष्टि में विकीरित होती रहती है जव तक कि सम्पूर्ण सृष्टि का दिव्यीकरण नहीं हो जाता। मेरी अपनी क्षुद्र मति में यदि अरविन्द इस अवतरण–सिद्धान्त की कल्पना न भी करते तो कोई हानि नहीं थी। कदाचित् प्राचीन दैवी अवतरणों की व्याख्या के लिये ही उन्होंने इस सिद्धान्त की कल्पना कर ली है।

'अतिमानस' या अतिमानवता के सोपान पर पहुँच कर मानव-जीवन एक दिव्य जीवन में परिणत होने लगता है। जगत् के सारे दुख, द्वन्द्व, युद्ध, संघर्षादि स्वतः शमित होकर विश्व में आनन्द का अखण्ड साम्राज्य स्थापित हो जाता है और आत्माएँ परम आत्मा के निकट आत्मज्ञात होकर लीला का आनन्द लेने लगती हैं। यही मोक्ष है और यही है जीवन का चरम पुरुपार्थ। पर याद रखने की वात है कि

आनन्द की यह स्थिति केवल मानव के लिये नहीं होती, सम्पूर्ण सृष्टि के लिये होती है। इसे प्रकृति का विराट् योग ही कहना चाहिये। भारतीय दर्शन में योग सदा व्यक्तिगत मोक्ष ही का साधन रहा पर अरविन्द ने अपने समग्र (इंटीग्रल) योग को सार्वभौम उत्थान का साधन माना है, उनके योग का लक्ष्य न केवल मनुष्य का, न केवल प्रकृति का अपितु सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का दिव्यीकरण करना है। इस प्रकार अरविन्द ने पश्चिम की सार्वभौमता का अपने दर्शन में समावेश किया है।

दिव्यचेतन या अतिमानसिक दशा के आगे बढ़ने पर विशिष्ट आत्माएँ परम आत्मा में, सारी अनेकताएँ एकता में लय हो जाती हैं और विकास का चक्र पूर्ण हो जाता है।

---

5 बर्गसाँ का प्रवाहवाद

'प्रवाहवाद' उस विचार-सरणि का नाम है जो परिवर्तन को, या प्रवाह को एक मात्र सत्ता मानती है। जगत् में जो कुछ है, वह निरन्तर गतिशील है, स्थायित्व किसी भी वस्तु में नहीं। स्थायित्व यदि है, तो प्रवाह ही, केवल गति ही, सत्य है। अन्यत्र यदि कहीं स्थायित्व दिखाई पड़ता है तो वह दृष्टिदोष ही है।

यह प्रवाहवाद आधुनिक युग की कोई नवीन विचार-धारा हो, ऐसी बात नहीं है। बहुत पहले ई० पू० की छठी शताब्दी में भारत में गौतम बुद्ध तथा ग्रीस में हिराक्लिटस ने इसकी प्राण-प्रतिष्ठा की थी। तब से अब तक अनेक स्यन्द (फ्लक्ष) दार्शनिक हो चुके हैं। उनके विचार दर्शन तथा साहित्य की घाटियों में समय समय पर गूँजते रहे हैं और परिणाम स्वरूप यह अनुगूंज, हमारे, विशेषत: भारतीयों के संस्कारों का अंग बन गई है।

पर संस्कार का अङ्ग बन जाना एक बात है, उसे तर्कसम्मत वैज्ञानिक पद्धति पर हृदयंगम करना बिल्कुल ही दूसरी बात है। संस्कार का अङ्ग बन जाना केवल आवृत्ति-जन्य 'अतिपरिचय' का द्योतक है जिसमें अर्थ का अन्ध-ग्रहण मात्र होता है। कौन नहीं जानता कि इस प्रकार के अति-परिचय में परिचय की मात्रा कम होने लगती है और विश्वास तथा श्रद्धा की मात्रा बढ़ने लगती है? पाश्चात्य दर्शन की यह प्रवृत्ति रही है कि उसने अपनी दार्शनिक मान्यताओं एवं विश्वासों को हर बार नूतन वैज्ञानिक उपलब्धियों की कसौटी पर चढ़ाया है और उनमें निहित स्वर्ण की मात्रा के सम्बन्ध में संशोधन किया है।

बर्गसाँ (1859-1941) के प्रवाहवाद का महत्व इसी दृष्टि से है। यह फ्रेंच दार्शनिक प्रवाहवाद के नवीनतम उन्नायकों में से है जिसने अपने युग की नूतनतम वैज्ञानिक (गणित-विज्ञान, प्राण-विज्ञान और मनोविज्ञान) गवेषणाओं के प्रकाश में इस विचारधारा की पुन: प्रतिष्ठा की है।

गति की सत्यता का और स्थिति के मिथ्यात्व को प्रतिपादित करते हुए वह तर्क देता है कि अस्तित्व, जिसके सम्बन्ध में हम सर्वाधिक आश्वस्त हैं और जिसे हम सर्वाधिक निकटता से जानते हैं, हमारा अपना अस्तित्व है, क्योंकि हमारा अपने आपका प्रतिबोध (पर्सेप्शन) वस्तुतः अन्तःबोध होने के कारण गहन और विश्वसनीय होता है। प्रश्न उठता है कि मेरा "अस्तित्व" क्या है ?

अन्तरावलोकन करने पर पता चलता है कि मैं एक मनःस्थिति से दूसरी पर और दूसरी से तीसरी पर जाता रहता हूँ : मैं प्रसन्न हूँ, उदासीन हूँ, सोचने लगता हूँ, इच्छा करने लगता हूँ, कार्य करने लगता हूँ। संवेदन, अनुभूति, इच्छा, विचार, स्मृति आदि परिवर्तनों में मेरा अस्तित्व बँटा हुआ है; मैं सतत परिवर्तनशील हूँ।

किन्तु, केवल इतना कहना ही पर्याप्त नहीं है। मैं एक मानसिक स्थिति से दूसरी में जाता हूँ, यहां दो स्थितियों के बीच के केवल मार्ग (पेसेज) में ही गति का आभास होता है, और मैं सोचता हूँ कि मानसिक स्थिति–विशेष में, जितने समय तक वह बनी रहती है, मेरा अस्तित्व स्थायी है। पर तनिक-सा पुनर्विचार यह प्रदर्शित कर देता है-कि कोई भी अनुभूति, विचार या इच्छा ऐसी नहीं है जो प्रतिक्षण परिवर्तित न हो रही हो।

उदाहरण लीजिये उस मानसिक स्थिति का जो अंतर्दशाओं में सर्वाधिक स्थायी मानी जाती है। वह है--किसी बाह्य निश्चल पदार्थ का चाक्षुष प्रतिबोधन। इस मनोदशा में चाहे अन्य सभी हेतु यथावत् रहें जैसे बाह्य पदार्थ, दृष्टि का कोण, प्रकाश की मात्रा आदि—फिर भी दृश्य जो इस क्षण दिखाई पड़ रहा है, वही दृश्य नहीं है जो एक क्षण पूर्व दिखाई दिया था।

इसका कारण है हमारी स्मृति। यदि मनुष्य में विगत को स्मरण रखने की क्षमता न हुई होती तो कदाचित् यह सम्भाव्य था कि वह एक ही क्षण को अनन्त बनाकर जी सकता था। उस स्थिति में न तो विकास की कोई सम्भावना हो सकती थी. न उसका कोई इतिहास हो सकता था; न चरित्र जैसी कोई वस्तु होती और न किसी प्रकार का व्यक्तित्व होता। किन्तु मनुष्य स्मृति-सम्पन्न है और यह स्मृति जिसमें हमारे भूत का सम्पूर्ण इतिहास– वह चाहे कितने ही सूक्ष्म रूप मे क्यो न हो—सचित है निरन्तर अपनी क्रियाशीलता में विगत का कुछ न कुछ अंश वर्तमान में ढोती रहती है और ज्यों ज्यों यह काल के पथ पर अग्रसर होती जाती है, त्यों त्यों वर्तमान के क्षण को समेटती–सहेजती हुई उसी प्रकार अभिवृद्ध होती जाती है जिस प्रकार हिम पर लुढ़कती हुई हिमकन्दुक (स्नोबॉल)"।

यह क्षण-क्षण-परिवर्द्धमान स्मृति ही हमारे वर्त्तमान के क्षण की सृष्टि करती है। "सृष्टि" (क्रिएशन) शब्द को निर्माण (फार्मेशन) या रचना (कम्पोज़ीशन) से भिन्न करके समझना चाहिए। निर्माण या रचना के पीछे कोई पूर्वकालिक इतिहास होना आवश्यक नहीं है, जबकि सृष्टि अपने विगत के सम्पूर्ण इतिहास का रस खींच कर उद्‌भूत होती है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार सम्पूर्ण पौधे का रस खींचकर पुष्प प्रसूत होता है। तात्पर्य यह, कि क्षण के बाद क्षण, न मानकर बर्गसाँ, क्षण से उद्‌भूत क्षण में आस्था रखता है। इस प्रकार प्रत्येक क्षण एक नवीन सृष्टि का क्रम बनकर काल-प्रवाह की गति के साथ निरन्तर आगे ही बढ़ता है, पीछे की ओर नहीं लौटता और न अपनी स्थिति में ध्रुव रहता है।

इस प्रकार हमारे वर्तमान क्षण की सृष्टि के पीछे हमारा सम्पूर्ण इतिहास छिपा हुआ है— हमारा ही नहीं, हमारे समस्त पूर्वजों का भी क्योंकि हमारे पूर्वजों के संस्कार हम अपने साथ लाते हैं। हमारा व्यक्तित्व अन्ततः है क्या ? निःसन्देह, हमारे आदि पूर्वज वह चाहे एककोशी (यूनीसेलुलर) प्राणी ही क्यों न हों, से प्रारम्भ होकर हमारे वर्तमान तक के जिए हुए क्षणों का सारभूत इतिहास ही है। अपने सुकोमल गात पर कंटक धारण किये हुए जो गुलाब का पुष्प मन्द वायु में झूम रहा है, वह बता भले ही न सके, और बता हम भी नहीं सकते, पर उसका भी एक इतिहास है, एक व्यक्तित्व है।

चूँकि हमारे जीवन का आगामी क्षण हमारे सम्पूर्ण व्यक्तित्व के वेग से सृष्ट होता है, वह अनिवार्य रूप से अपने पूर्वगामी क्षण से भिन्न होता है। इस प्रकार, यह सम्भव नहीं कि हम एक ही क्षण में एक से अधिक बार जी सकें, अर्थात् किसी मनचाहे क्षण को अमर बना सकें। न ही, यह सम्भव है कि किसी बीते क्षण को लौटा सकें। एच० जी० वैल्स की 'द टाइम मशीन' मात्र एक कल्पना है; वह इस दिशा में हमें कोई सहायता नहीं पहुँचा सकती।

निष्कर्ष यह कि हम निरन्तर परिवर्तनशील हैं और कि जिन्हें हम मानसिक स्थितियाँ कहते हैं, वे भी गतिशीलता के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि एक मनोदशा से दूसरी मनोदशा में आने और उस मनोदशा में बने रहने में कोई तात्विक अन्तर नहीं है।

इस प्रकार हमारा अस्तित्व 'स्थिति' (बीइंग) में न होकर 'गति' (बिकमिंग) में है। जीवन नदी की धारा की भाँति, विकास का क्रम है। पर जब हम काल के इस अखण्ड प्रवाह की ओर से आँख मूँद लेते हैं तो हमें यह प्रवहमान सत्ता, नाना खण्डों और इकाइयों के रूप में विभक्त दिखाई पड़ने लगती है। आँख मूँदने का कारण है विशिष्ट प्रकृति वाली हमारी बुद्धि (इंटलैक्ट) जो केवल कर्म के क्षेत्र में ही सुख का

अनुभव करती है। कर्म के क्षेत्र में हमारी दृष्टि परिणाम पर लगी रहने के कारण साधन को या प्रक्रिया को देखने में रुचि नहीं लेती। और सुविधा की दृष्टि से, यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि एक छोटे से छोटे अंग-संचालन में अगणित स्थितियाँ होती हैं। मैं अपनी भुजा को नीचे से ऊपर ले जाता हूँ। इस साधारण से कार्य में पता नहीं, मेरी भुजा कितनी स्थितियों में से होकर निकलती है, मेरे शरीर की कितनी मांसपेशियों में संकुचन (कान्ट्रैक्शन) होता है, और कितनी रगों में तनाव (टेन्शन) उत्पन्न होता है। यदि मेरी बुद्धि इन सब पर विचार करने लगे तो सम्भव है, मैं पागल हो जाऊँ। अतः बुद्धि केवल दो ही स्थितियाँ देखती है—एक, कार्य प्रारम्भ होने से पूर्व की, दूसरी कार्य समाप्त होने के बाद की। इनके बीच स्थितियों की जो अमाप श्रृंखला है, उसे वह दृष्टि-पथ से ओझल ही रखती है।

बुद्धि और विज्ञान की यह पद्धति जो "सिनेमेटोग्राफ" (चलचित्र केमेरा) या "केलेडॉस्कोप" (बच्चों की दूरबीन) की भाँति गतिशील पदार्थों के स्थिर चित्र लेकर अथवा काँच के टुकड़ों के विभिन्न संयोगों से उत्पन्न विभिन्न चित्रों का निर्माण कर जीवन को, जो एक प्रवाह है, समझने की चेष्टा करती है, वह एक असफल चेष्टा है। वस्तुतः जो गतिशील है, उसे स्थिर रूपों से क्योंकर समझा जा सकता है? दौड़ते हुए अश्व के चाहे जितने चित्र ले लिये जायँ पर वे सब चित्र मिल कर भी अश्व की गति की व्याख्या नहीं कर सकते। गति को स्थिति से समझाना असम्भव है।

जीनो के प्रसिद्ध तर्क में यही भ्रम निहित है। वह कहता है कि उड़ता हुआ तीर प्रत्येक क्षण में गतिरहित है क्योंकि उड़ने के लिए उसके पास दूसरा क्षण नहीं है, अर्थात वह एक ही क्षण में दो क्रमिक स्थान ग्रहण नहीं कर सकता। अतः एक क्षण-विशेष में वह एक स्थान-विशेष पर अचल है और इस प्रकार अपनी उड़ान की सम्पूर्ण अवधि में, अपने मार्ग के प्रत्येक बिन्दु पर वह गतिरहित है।

स्पष्ट है कि इस तर्क में गति को गति के रूप में न देखा जाकर उसे क्षण-क्षण की स्थिरता या गतिशून्यता से नापने की चेष्टा की गई है। वस्तुतः काल के प्रवाह को क्षण के खण्डों में विभक्त करने से यह भ्रम उत्पन्न हुआ है। यहाँ बाण की गति पर बाण की उड़ान-रेखा को आरोपित कर यह मान लिया गया है कि रेखा के सम्बन्ध में जो सत्य है, वह गति के सम्बन्ध में भी सत्य है अर्थात् जिस प्रकार रेखा को असंख्य खण्डों में विभक्त कर देने पर भी रेखा, रेखा ही रहती है, उसी प्रकार गति को असंख्य क्षणों में विभक्त कर देने पर भी गति, गति ही रहेगी। समझने की बात केवल इतनी है, कि काल अखण्ड है और क्षण, सुविधा की दृष्टि से किया जाने वाला, उसका सूक्ष्मतम भाग है।

बुद्धि के इस स्वाभाविक संभ्रम का ही परिणाम है कि हम जीवन-प्रवाह के कुछ विन्दुओं को, जो बहुत अधिक परिवर्तन हो जाने के कारण बरबस हमारे प्रतिबोधन को आकृष्ट कर लेते हैं, पकड़ कर उन्हें गति-शून्य कर देते हैं और एक के निकट दूसरे को यों रखते हैं जैसे वे किसी माला के मनके हों। मानव-जीवन के एक ही प्रवाह को—शिशु, बाल, किशोर, युवा, प्रौढ़, वृद्ध आदि विविध मनकों में बिखेर कर हम पहले तो प्रवाह के वास्तविक सम्बन्ध-सूत्र को विच्छिन्न कर देते हैं, फिर उनमें एकत्व-स्थापन की अवशता से अभिभूत हो अहम् (ईगो) जैसे कृत्रिम और मिथ्या तल-आधार (सब-स्ट्रेटम) की कल्पना करते हैं।

वस्तुतः बुद्धि जड़-जगत् में जितनी ही सफल है, प्राणि-जगत में उतनी ही असफल है। प्राणि-जगत् के रहस्यों का उद्‌घाटन सहजज्ञान (इंट्यूशन) द्वारा ही सम्भव है। बर्गसाँ सहजज्ञान को सहजावबोध (इंस्टिंक्ट) का ही परिष्कृत रूप मानता है।[1] यह सहजज्ञान हमें प्रवाह के ठीक भीतर पहुँचाने में समर्थ है। पर सहजावबोध के भीतर की सुप्त चेतना को जाग्रत करना कठिन अवश्य है। यदि हम उसे जगा सकें तो जीवन के अति गुप्त रहस्यों का ज्ञान सहज ही प्राप्त किया जा सकता है। बर्गसाँ स्वयम् उस ज्ञान तक पहुँचा है :

"विशुद्ध प्रवाह में अपनी प्रगति की चेतना धारण करने में हम जितने ही अधिक सफल होते हैं, उतना ही अधिक हम अनुभव करते हैं जैसे हमारी सत्ता के विभिन्न अवयव एक दूसरे में प्रविष्ट हो गये हैं और हमारा सम्पूर्ण व्यक्तित्व—एक नोंक, या कहिए एक पैनी धार बन कर अविराम गति से भविष्य को काटता जा रहा है।"

---

1. बर्गसाँ, क्रिएटिव इवॉल्यूशन, आर्थर मिच्चेल द्वारा अनूदित पृ० 194.

6 बर्गसाँ : यन्त्रवाद और हेतुवाद

विकास को बर्गसाँ ने सृजनात्मक माना है। उसके मत में विकास निरन्तर सृजन का क्रम है। सृजन या सृष्टि निर्माण से भिन्न है जिसमें अवयवों का केवल क्रम-विधान नूतन होता है। उसमें मात्र रूप का परिवर्तन होता है, स्रष्ट कुछ नहीं होता। सृष्टि में मौलिक एवं आन्तरिक परिवर्तन होता है, ऐसा कि जिसके स्वरूप का अनुमान अतीत और वर्त्तमान के आधार पर लगाया जा सकना असम्भव है। वस्तुतः सृष्टि अपने सम्पूर्ण अतीत का रस खींच कर उद्भूत होती है जिस प्रकार सम्पूर्ण पादप का रस खींचकर पुष्प प्रसूत होता है। यही कारण है कि अतीत के अगणित क्षणों का जीवन-रस निचोड़ते हुए जो आगामी क्षण स्रष्ट हो रहा है, उसके रूप की पूर्व-कल्पना मानवीय ही नहीं, अतिमानवीय बुद्धि के लिए भी असम्भव है।

हमारी बुद्धि, जो निर्माण का ज्ञान प्राप्त करने में अद्वितीय है, सृष्टि को समझने में नितान्त असमर्थ है। बुद्धि स्वयं निर्माण के साँचे में ढली है। इसीलिए वह सत्य को खण्डों में विभक्त करके देखने की आदी है। वह सर्वत्र कारण-कार्य-सम्बन्ध स्थापित करने को अधीर रहती है। अतः सम्पूर्ण सत्य को न देख पाकर सत्य का केवल वही अंश ग्रहण करती है, जिसकी व्याख्या कारण-कार्य-पद्धति पर हो सके। काल के अप्रतिहत प्रवाह द्वारा क्षण क्षण में स्रष्ट नवीनता को वह बने बनाये खानों में बलपूर्वक ठूँसती हुई जैसे घोषणा करती है कि यहाँ नवीन कुछ नहीं है, जो है वह प्राचीन की बार-बार होने वाली आवृत्ति ही है। इस घोषणा से कदाचित् यह भी ध्वनित होता है कि विश्व का समस्त ज्ञान हमारे भीतर पहले से ही पूर्णरूपेण संचित है।

यह बुद्धि, विकास-क्रम के लिए दो 'रेडीमेड. गार्मेन्ट्स' प्रस्तुत करती है : यन्त्रवाद (मिकेनिज्म) और हेतुवाद (फायनेलिज्म)। बर्गसाँ का कहना है कि इसमें से कोई सा भी विकासवाद के शरीर पर ठीक नहीं बैठता। हाँ, यदि हेतुवाद वाले वस्त्र

की काट और सिलाई द्वारा की जा सके, तो वह दूसरे वस्त्र की अपेक्षा कम भद्दा लगेगा ।[1]

यन्त्रवाद, प्राणी तथा यन्त्र में अन्तर नहीं करता । वह मानव-आचरण की व्याख्या यान्त्रिक प्रतिक्रिया के विकास में करता है और चूंकि यन्त्र की क्रिया एक बँधे-बँधाये रूढ़ मार्ग पर चलती है, उसके भावी स्वरूप का पूर्व-कथन भी सम्भव है । यन्त्रवादियों का विश्वास है कि प्राणी के व्यवहार को भी इसी मान से मापा जा सकता है, और कि वर्तमान के आधार पर भूत तथा भविष्य की गणना की जा सकती है । प्राणी उनके लिए रेखागणित का कोई त्रिभुज अथवा अंकगणित का कोई प्रश्न है, जिससे अङ्क दी हुई बातों के आधार पर एक, और केवल एक उत्तर तक पहुँचा जा सकता है । हक्सले का दावा है कि यदि वैज्ञानिक को सृष्टि के प्रारम्भ में व्याप्त वाष्प के व्यूहाणुओं (मालेक्यूल्स) के गुण ज्ञात होते, तो वह परिगणना कर निश्चित रूप से बता सकता था कि ई० सन् 1869 में ब्रिटेन के पशु-वर्ग (फोना) की अमुक स्थिति होती । ला प्लेस[2] तथा वोइ रेमन्ड[3] आदि ने भी ऐसी ही विचारणा व्यक्त की है ।

स्पष्ट है कि यन्त्रवाद के इस कट्टर स्वरूप में काल या समय के लिए कोई स्थान नहीं है, क्योंकि, यहाँ भूत-वर्तमान और भविष्य हस्तामलकवत् स्पष्ट हैं । काल की इस अस्वीकृति का ही परिणाम है कि वह विकास-क्रम में नूतन सृष्टि के दर्शन नहीं कर पाता । वस्तुतः काल, प्राणी पर जितनी ही गहरी छाप छोड़ता है, यन्त्र से प्राणी की भिन्नता उतनी ही स्पष्ट हो जाती है, क्योंकि यन्त्र तो काल की वर्षा में पत्थर की भाँति केवल बाह्य सतह पर ही भीगता है । यह भिन्नता और भी स्पष्ट हो उठती है जब निम्नतम प्राणी एमीबा से उच्चतम प्राणी मनुष्य तक के जीवन-विकास को उसकी समग्रता में, उसके प्रवाह में देखा जा सके ।

वर्गसाँ का मत है कि प्राणी यन्त्र नहीं है । यन्त्र के परिचालन का कारण बाहर है; प्राणी के विकास की प्रेरणा भीतर है । इसी विवेक के अभाव में चार्ल्स डार्विन, वेटेसन, डी व्राइज़, डॉर्फमीस्टर, ईमर तथा हर्बर्ट स्पेन्सर कस्तूरी-मृग की भाँति विकास का कारण वाह्य जड़ परिस्थितियों में ढूंढते फिरे । वर्गसाँ के पूर्ववर्ती विकास-वादियों में केवल नव्य-लेमार्कवादी (विशेषतः कोप) ही ऐसे हैं, जिन्होंने प्राणी के विकास में आन्तरिक कारण को भी मान्यता दी है । वर्गसाँ का दावा है कि प्राणि-

---

1. हेनरी वर्गसाँ, सृजनात्मक विकासवाद, भूमिका; आर्थर मिचेल द्वारा किया गया अंग्रेज़ी अनुवाद ।
2. ला प्लेस, इन्ट्रॉडक्शन अ ला थ्योरी एनालीटिक डेस प्रावेविलिटीज़, पेरिस 1886 पृ० vi.
3. वोइ रेमन्ड, उवेर डाय ग्रेजेन डेस नेचुरकेन्नेस, लीपज़िग, 1892.

बुद्धि का चरम विकास लिए मनुष्य खड़ा है, उसी प्रकार अन्य सीमान्तों पर अन्य वृत्तियों का पूर्ण विकास लिए अन्य प्राणी भी हैं। "अतः यह आवश्यक है कि विकास के शेष छोरों पर उपलब्ध वृत्तियों का बुद्धि के साथ समन्वय किया जाय। केवल उसी अवस्था में हम विकास-क्रम की वास्तविक प्रवृत्ति की झलक पा सकते हैं।"

उन शेष वृत्तियों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण वृत्ति सहजबोध (इंस्टिंक्ट) है, जिसका चरम विकास कलापक्षा (हायमेनॉप्टेरा) में देखने को मिलता है, किन्तु जो उपलब्ध तो मनुष्य में भी है। बर्गसाँ का मत है कि सहजबोध की रचना, स्वयम् जीवन की पद्धति पर हुई है अतः जीवन के मर्म को समझने की उसमें विलक्षण सामर्थ्य है। उसका कहना है कि सहजबोध को राग-रहित तथा आत्म प्रबुद्ध बना कर सहजज्ञान (इंट्यूशन) के धरातल तक उठाया जा सकता है और तब, जीवन के अति गुप्त रहस्यों का सहज ही उद्घाटन किया जा सकता है जो अन्यथा असम्भव है। अतः विकास-क्रम को समझने के लिए एक नवीन दृष्टि की अपेक्षा है—ऐसी दृष्टि जिसके पीछे बुद्धि और सहजज्ञान का अनिवार्य समन्वित प्रकाश हो।

---

7 बर्गसाँ : बुद्धि और सहजबोध

बर्गसाँ विकासवादी दार्शनिक है। विकासवादियों में बर्गसाँ प्रथम व्यक्ति है जिसने विकास की एकाधिक दिशाएँ मानी हैं। उसके मत में विकास का मूल कारण न तो बाह्य परिस्थितियाँ हैं और न वे मनोधातुगत विभेद (सायकीकल वेरीएशेन्स) जो स्वयम् को बाह्य परिस्थितियों के अनुकूल बनाने की प्रक्रिया में प्राणी के भीतर उत्पन्न होते हैं। बर्गसाँ के पूर्ववर्त्ती प्राणिशास्त्री यथा ला मार्क डार्विन, बेटेसन, ह्यूगो डी व्राइज, ईमर, डार्फमीस्टर आदि सब के सब परिस्थितिजन्य विभेदों की उपकल्पना में यों उलझे थे जिस प्रकार मकड़ी स्वनिर्मित जाले में लटकी होती है। बर्गसाँ पहला व्यक्ति था जिसने विकास की मूल प्रेरणा बाहर नहीं, प्राणी के भीतर देखी।

बर्गसाँ के अनुसार अन्तःस्थित जीवन्त प्रेरणा (वाइटल् इम्पीटस्) ही प्राणी के विकास का मूल कारण है जिसे उसने 'इलान् वाइटल' की संज्ञा दी है। यह जीवन्त प्रेरणा, यह जिजीविषा, जीवन का ही प्रतिरूप है, जीवन का स्वाभाविक धर्म है जिसका उद्दाम वेग प्राणी को अपने विकास-पथ पर ठेलता चलता है और उसे अधिकाधिक समृद्ध करता चलता है। समृद्ध करने से तात्पर्य है उन समस्त प्रवृत्तियों को विकसित करने से जो अत्यन्त सूक्ष्म रूप में प्राणी के प्राण में समाहित हैं। किन्तु प्राणी में समृद्ध होने की यह क्रिया शीघ्र ही अपनी सीमा प्राप्त कर लेती है और तब वृद्धि के स्थान पर विभाजन की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है। विभाजन की यह 'एन्टीथेसिस' भी स्वयम् प्राण में निहित होती है, क्योंकि जीवन एक प्रवृत्ति है और प्रवृत्ति का विकास शस्य की वाल (शीफ) के रूप में होता है, जो अपनी अभिवृद्धि के साथ साथ, और कहना चाहिए, अभिवृद्धि के लिये भी, नवीन दिशाएँ खोजती चलती है।

जीवन के बहुमुखी विकास को स्पष्ट करने के लिए बर्गसाँ एक विस्फोटक गोले (शैल) का उदाहरण देता है। गोला सहसा फट जाता है और उसके खण्ड अनेक दिशाओं में उछल पड़ते हैं। इन खण्डों में से प्रत्येक खण्ड में फिर विस्फोट होता है

और उत्क्षेपित खण्डांश फिर स्फोट के लिए प्रस्तुत रहते हैं और यह क्रम अनन्त काल तक चलता रहता है।[1] इस स्फोट के स्वरूप का निर्धारण दो बातों से होता है : बारूद की विस्फोटक शक्ति तथा धातु-वेष्टन का अवरोध। इसी प्रकार जीवन की प्रवृत्तियाँ भी जातियों (स्पिसीज़) तथा व्यक्तियों के रूप में विभाजित हो जाती हैं और इस विभाजन का स्वरूप-निर्धारण जिन दो कारणों पर निर्भर करता है, वे हैं, जीवन्त प्रेरणा का उद्दाम वेग तथा जड़ द्रव्य का अवरोध। यह विभाजन और उपविभाजन चाहे जितनी बार हो, होता है उसी मूल प्रेरक शक्ति का। अतः विभिन्न जातियों में विकसनशील प्रवृत्तियाँ, विरोधी होने पर भी, एक दूसरे की पूरक होती हैं।

पादप तथा पशु एक ही प्रजाति (जीनस) मे विकसित जातियाँ हैं। अपना खाद्य जुटाने की विधि दोनों में पृथक् है। पादप अपना भोजन, विशेषतः कार्बन और नाइट्रोजन, सीधे पृथ्वी तथा वायु से, खनिज रूप में प्राप्त करता है जब कि पशु इन्हें पादप से आंगिक (आर्गेनिक) रूप में प्राप्त करता है। अपवाद-स्वरूप कुकुरमुत्तों (फंगी) के कुछ प्रकार अपना खाद्य पशुओं की विधि से प्राप्त करते हैं तथा 'ड्रासेरा,' 'डियानका' और समस्त कीट-भक्षी पादपों में दोनों विधियाँ एक साथ देखने को मिलती हैं। वे पृथ्वी से तो खाद्य खींचते ही हैं, कीट-पतंगों को भी पकड़ कर, चूस कर पचा लेते हैं। वस्तुतः पादप और पशु में प्रवृत्तियाँ तो समान ही हैं पर पादप, प्रवृत्ति-विशेष पर बल देकर उसमें विशेष योग्यता प्राप्त करता है। पशु दूसरी ही प्रवृत्ति को विकसित करता तथा उसमें विशेषीकरण प्राप्त करता है। इस प्रकार पादप तथा पशु जाति की प्रवृत्तियाँ एक दूसरी की पूरक हैं।

सामान्यतया पादप अचल और पशु चल होता है, पर दोनों ही जातियों में चलता और अचलता दोनों विद्यमान हैं। अन्तर केवल इतना है कि जहाँ पादप ने अचलता को विशेष रूप से चुना और विकसित किया है, वहाँ पशु ने चलता को–जो स्पष्टतः अचलता की विरोधी वृत्ति है—चुना और विकसित किया है। वस्तुतः चलता-अचलता सहगामी हैं, केवल इसलिए कि वे एक दूसरे की पूरक हैं, और पूरक हैं, केवल इसलिए कि वे भिन्न हैं।

यही बात बुद्धि (इंटैलिजैन्स) और सहजबोध (इंस्टिंक्ट) के सम्बन्ध में भी सत्य है। बर्गसाँ पशु जाति का विकास दो श्रेणियों में मानता है—'एन्थ्रोपॉड' तथा पृष्ठवंशी। प्रथम का चरम विकास 'कीट' में, विशेषतः कलापक्षा (हायमेनोप्टेरा) में हुआ तथा दूसरी का मनुष्य में। सहजबोध का चरम विकास कीट योनि के कलापक्षा में दिखाई पड़ा और बुद्धि का चरम विकास पृष्ठवंशी मानव में। अतः कहा जा

---

1. बर्गसाँ, क्रिएटिव इवॉल्यूशन, आर्थर मिचेल द्वारा अनूदित, पृ० 109.

सकता है कि पशु योनि का सम्पूर्ण विकास दो विरोधी मार्गों पर हुआ है। एक मार्ग ने उसे सहजबोध तक पहुँचाया है, दूसरे ने बुद्धि तक।

बर्गसाँ की मान्यता है कि बुद्धि ने जड़ पदार्थों के क्षेत्र में विशेषीकरण प्राप्त किया है और इसीलिए जहाँ निष्प्राण, ठोस, असंगठित सामग्री का क्षेत्र है यथा गणित, पदार्थ विज्ञान, रसायनशास्त्र आदि, वहाँ बुद्धि का एकच्छत्र शासन है। इस क्षेत्र में व्यक्ति-निरपेक्ष पूर्वावयवों (प्रेमिजेज़्) से व्यक्ति-निरपेक्ष ही परिणाम निकालने होते हैं इसीलिए कोई अन्तर नहीं पड़ता। किन्तु जीवन के क्षेत्र में पहुँच कर तो बात ही दूसरी हो जाती है। वहाँ क्या तो पूर्वावयव और क्या परिणाम—सभी व्यक्ति सापेक्ष होते हैं। अतः जीवन के तथ्यों के साथ वह निरपेक्ष व्यवहार सम्भव नहीं है जो रेखागणित में निर्जीव तथ्यों के साथ किया जाता है। यही कारण है कि जीवन में हमारी समस्याओं को कोई अन्य व्यक्ति हमारे लिए हल नहीं कर सकता। वे स्वयम् हमें हल करनी होती हैं क्योंकि वे हमारी समस्यायें हैं, मात्र समस्यायें नहीं।

जीवन के क्षेत्र में बुद्धि की अनुपयुक्तता का दूसरा कारण यह है कि बुद्धि केवल स्थिर रूपों को ही ग्रहण कर सकती है और जीवन, निरन्तर गतिशीलता के अतिरिक्त कुछ है नहीं। प्रवाहवादी दार्शनिक होने के कारण बर्गसाँ काल या चेतना के प्रवाह को ही एकमात्र सत्ता मानता है। इस प्रकार चैतन्य को जड़ता से और गति को स्थिरता से नापने का प्रयास यदि अनन्त काल तक भी चलता रहे, तो सफलता प्राप्त होने में सन्देह ही सन्देह है। उसका कहना है कि बुद्धि की ज्ञानोन्मुख होने की पद्धति वही है जो बच्चों की दूरबीन (कैलेडॉस्कोप) देखते समय होती है। इस दूरबीन को घुमाने से उसके भीतर रखे हुए अनेक आकार तथा रंग वाले कांच के टुकड़े घूम घूम कर नये चित्र बनाते चलते हैं। बच्चे का ध्यान उन चित्रों में ही रहता है क्योंकि उन्हीं में उसकी रुचि है। दूरबीन के घूमने या काँच के टुकड़ों की गति में उसे आकर्षण नहीं है और इसीलिए यह बात उसकी दृष्टि में नहीं आती। उन चित्रों को जो गति के परिणाम ही नहीं, प्रमाण भी हैं, वह 'स्थिति' (फॉर्म) के रूप में देखता है और गति के क्षण-विशेष को प्रवाह से काटकर गतिशून्य कर देता है।

बुद्धि भी, काल-प्रवाह के किसी क्षण को, जिसमें उसकी रुचि है, उठा कर अलग कर देती है और उसे 'स्थिति' के रूप में प्रतिष्ठित करती है। काल-प्रवाह की निरन्तर गति के परिणामस्वरूप जब किसी वस्तु के रूप अर्थात् फॉर्म में इतना अधिक अन्तर आ जाय कि वह फिर उसकी ओर आकृष्ट हो उठे, तो वह कहता है कि वस्तु ने अपना रूप बदल लिया। पर वास्तव में वस्तु अपना रूप प्रतिक्षण बदल रही

है, या कहना चाहिए रूप है ही नहीं। रूप तो गति का केवल एक 'स्नेपशॉट' चित्र है।

बुद्धि, चेतना-प्रवाह की एक उत्पत्ति मात्र है। कुछ पदार्थों पर, किन्हीं विशेष परिस्थितियों में कार्य करने हेतु जीवन ने जिसे विकसित किया, वह स्वयम् जीवन की व्याख्या किस प्रकार कर सकती है ? अंश कभी अंशी के समान नहीं हो सकता। किनारे पर का कंकड़ उस लहर का स्वरूप कैसे बता सकता है जो उसे वहाँ छोड़ गई ? अत: बुद्धि को जीवन की व्याख्या करने का प्रयत्न छोड़कर केवल स्थूल, ठोस, निर्जीव और स्थिर वस्तुओं का ही सम्यक् विश्लेषण करना चाहिये और अपने विशिष्टीकृत क्षेत्र की उपलब्धियां निश्छल भाव से उपस्थित कर देनी चाहिएँ।

जीवन या चेतना के क्षेत्र में विशेषीकरण है सहजबोध का। बर्गसाँ का कथन है कि सहजबोध स्वयम् जीवन के साँचे पर ढला है। इसीलिए जीवन में उसका सहज प्रवेश है। जहाँ बुद्धि की यान्त्रिकता (मिकेनिज्म) अनेकानेक जटिल कायिक संवेदनात्मक प्रतिक्रियाओं का नाम है वहाँ जीवन, निष्पन्न कार्य की सरलता का नाम है। मानव-चक्षु की रचना कितनी जटिल है पर उसके द्वारा देखने की क्रिया कितनी सहज है।

यही सहजबोध जब राग-रहित और आत्म-प्रबुद्ध हो जाता है तो वह सहज-ज्ञान (इंट्यूशन) बन जाता है। बर्गसाँ लिखता है : 'सहजज्ञान से मेरा आशय उस सहजबोध से है जो राग-रहित (डिसइन्टेरेस्टेड), आत्म-प्रबुद्ध (सैल्फ कॉन्सिअस) और अपने विषय पर मनन करने की तथा उसे असीम विस्तार देने की क्षमता वाला हो गया है।"[1]

जीवन-प्रवाह के सत्य को जानने के लिए सहजबोध को सहजज्ञान के धरातल तक उठाना आवश्यक है और बर्गसाँ का मत है कि ऐसा करना असम्भव नहीं है। हमारे भीतर सामान्य प्रतिबोधन (पर्सेप्शन) के अतिरिक्त जो सौन्दर्य-चेतना है, वह इस बात का प्रमाण है। यह सौन्दर्य-चेतना और कुछ नहीं, सहजज्ञान का ही एक रूप है।

सामान्य प्रतिबोधन में, चाहे वह किसी भी इन्द्रिय के माध्यम से हो, हम वस्तु का ज्ञान खण्ड-खण्ड रूप में प्राप्त करते हैं। वृक्ष को वृक्ष के रूप में न देखकर हमारी आँख उसे मूल, तने, डाली, पत्ती, फूल और फल के रूप में देखती है। इन खण्डों की तह में जो अखण्डता है, अनेकता के नीचे जो एकता है, वृक्ष का जो वृक्षत्व है, उसे केवल हमारी सहज चेतना ही, सौन्दर्य-चेतना ही देख सकती है।

1. वही, पृ० 194.

यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति में यह सहज चेतना, समान रूप से जाग्रत हो। पर जैसा कहा जा चुका है, इसे प्रबुद्ध किया जा सकता है। कवियों में, कलाकारों में, दार्शनिकों में यह विशेष प्रबुद्ध होती है जिसके फलस्वरूप वे अपने आप को काल-प्रवाह के भीतर प्रतिष्ठित कर तादात्म्य (आयडेन्टिटी) के माध्यम से सत्य का सीधा-सहज ज्ञान प्राप्त करते हैं।

देखने की बात यह है कि विज्ञान के मार्ग से चल कर बर्गसाँ वहीं पहुँच गया है जहाँ अध्यात्म के मार्ग से चल कर भारतीय मनीषी पहुँचे थे। "स्वानुभव की गहराइयों में हम उस क्षण की खोज करें जहाँ हमें अपने निज के भीतर अपनी उत्कट अनुभूति होती हो। उस क्षण हम काल के विशुद्ध प्रवाह में डुबकी ले रहे होंगे—ऐसा प्रवाह जिसमें सतत गतिशील अतीत, चिरनूतन वर्तमान को आत्म-सात् करता हुआ अनन्त रूप से अभिवृद्ध हो रहा होगा। पर साथ ही हमें अनुभूति होगी कि हमारी इच्छा-शक्ति की कमानी (स्प्रिग) अपनी अन्तिम सीमा तक लचक गई है। उस समय हमें चाहिए कि अपने व्यक्तित्व को पीछे की ओर एक प्रबल झटका देते हुए, अपने भूत को जो खिसक रहा है, सहेज-बटोर लें, ताकि उसे हम अखण्ड और अच्युत रूप में उस वर्तमान में झोंक सकें कि जिसकी यह सृष्टि करेगा। निःसन्देह ऐसे क्षण जीवन में बहुत कम आते हैं जब हम इस सीमा तक आत्म-अधिकृत हों। यह स्वानुभूति जितनी ही गहन, तादात्म्य जितना ही पूर्ण होगा, जीवन उतना ही उत्कट होगा—जीवन जो बौद्धिकता से ऊपर उठकर आत्मसात् कर लेगा।"[1]

स्पष्ट है कि स्वानुभूति की यह स्थिति–विशेष, भारतीय योग की 'समाधि' अवस्था से अधिक दूर नहीं है। यद्यपि यह 'असंप्रज्ञात समाधि' की कोटि तक तो नहीं पहुँचती जहाँ ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की एकता स्थापित हो जाती है, तथापि यह लगभग वही स्थिति है जिसे कबीर 'सहज समाधि' की संज्ञा देते हैं।

बर्गसाँ बुद्धि और सहजज्ञान में सामञ्जस्य स्थापित करने के हामी हैं। ये दोनों अपनी प्रवृत्ति तथा कार्य-क्षेत्र की दृष्टि से परस्पर विरोधी होते हुए भी. एक दूसरे के पूरक हैं। दोनों अपने मूल उद्गम का कुछ अंश अपने में बचाये रखते हैं और दोनों में से कोई भी विशुद्ध रूप में नहीं पाया जाता। जब तक दोनों का संगठित प्रयत्न नहीं होगा तब तक सत्य का स्वरूप ठीक-ठीक उद्घाटित न होगा। "कुछ ऐसी चीज़ें हैं जिन्हें केवल बुद्धि ही खोजने में समर्थ है किन्तु जिन्हें वह केवल अपने बूते पर पा नहीं सकती; इन वस्तुओं को केवल सहजज्ञान ही प्राप्त कर सकता है, किन्तु जिन्हें वह कभी खोजेगा नहीं।"[2]

---

1. वही, पृ० 218–19.
2. वही, पृ० 167.

वस्तुत: दोनों के समुचित समन्वय में ही मानवता का हित निहित है। मानव-चेतना की इन दो विपरीत धाराओं का संगम ही चेतना की समग्रता को व्यक्त करेगा और इस समग्र चेतना का स्वामी—भविष्य का महामानव— सम्भव है, उस ऊँचाई तक पहुँच सके जहाँ से उसकी दृष्टि सर्वथा नवीन क्षितिजों का विस्तार देख सके। "सहजज्ञान और बुद्धि, चेतना के कार्य की दो विपरीत दिशाएँ हैं। समग्र तथा पूर्ण मानवता वह होगी जिसमें चेतना के इन दोनों रूपों का पूर्णतम विकास होगा। और उस मानवता तथा हमारी आज की मानवता के मध्य प्रज्ञा तथा सहजज्ञान के आनुपातिक समन्वय के परिमाण के आधार पर हम विकास की मनचाही सम्भाव्य स्थितियों की कल्पना कर सकते हैं।"[1]

---

1. वही. पृ॰ 291.

8 राष्ट्रीय सुरक्षा, साहित्यकार तथा जन-जागरण

हाल के चीनी आक्रमण के परिणामस्वरूप जो प्रश्न भारतीय राजनीति के तल-प्रदेश से उठकर सतह पर छा गया है, वह राष्ट्रीय सुरक्षा का है। अब से पहले जैसे सारा देश इस सम्बन्ध में आश्वस्त था। यदि कभी किसी कोने से यह प्रश्न उठता भी था तो इसे अनावश्यक और पुनरुक्त कह कर टाल दिया जाता था। प्रश्न की इस उपेक्षा का कारण सम्भवतः देशवासियों की चिन्ता-धारा थी कि यदि हम किसी देश पर आक्रमण नहीं करते तो हमारे देश पर भी कोई क्यों आक्रमण करेगा? पर जैसे इस चिन्ता-धारा के अन्तर्वर्ती मिथ्यात्त्व का उद्घाटन करते हुए देश के सीमान्त पर आक्रमण हुआ और सामयिक जीवन की समस्त प्रमुख समस्याओं को ठेल कर इस उपेक्षित और तिरस्कृत गौण प्रश्न ने वह वृहत् आकार ग्रहण किया कि देश के अनेक वरिष्ठ एवम् प्रवुद्ध राजनीति-चेता आश्चर्यचकित हो गये।

सम्प्रति राष्ट्रीय सुरक्षा का प्रश्न विदेशी आक्रमण के प्रसंग में उठा है पर इसका यह अर्थ नहीं है कि राष्ट्रीय सुरक्षा केवल वाह्य आक्रमण से ही संकट-ग्रस्त होती है। आन्तरिक संकट भी कम महत्त्व के नहीं हैं। इन संकटों में चार संकट प्रमुख कहे जा सकते हैं प्रान्तीयता, साम्प्रदायिकता, भाषावाद और राजनीतिक मतवाद।

इन संकटों के मूल में समान रूप से दृष्टिकोण की संकीर्णता निहित है जो क्षय-रोग के कीटाणुओं की भांति राष्ट्र के शरीर को भीतर ही भीतर खाये जा रही है। यदि समस्त देशवासी व्यापक दृष्टिकोण अपना सकें तो इन संकटों से उत्पन्न होने वाली समस्यायें हल होकर, कम से कम आन्तरिक विभेदों की निर्बलता को त्याग कर राष्ट्र एक-प्राण हो जाता है और ऐसे राष्ट्र पर बाह्य आक्रमण होने की सम्भावनायें भी एक निश्चित सीमा तक कम हो जाती हैं।

-

मगर राष्ट्र की आन्तरिक एकता की सिद्धान्त रूप में चर्चा करना जितना सरल है, उसे व्यावहारिक रूप देना उतना ही कठिन है। देश का भावात्मक एकीकरण करने के लिये जो प्रयत्न हुए हैं वे किसी से छिपे नहीं हैं पर कोल्हू के बैल की भाँति दिन भर चल कर भी देश अपने को वहीं पा रहा है, जहाँ वह पहले था। इसके लिए भी कदाचित् किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है कि प्रान्तीयता, साम्प्रदायिकता, भाषावाद और राजनीतिक मतवाद की उग्रता ज्यों की त्यों है।

नये सिरे से प्रान्तों के नव-निर्माण और पुनर्गठन की माँग जैसे यह कहती है कि राष्ट्रीयता हमारा नारा है और प्रांतीयता हमारे अन्तर की रागिनी है। साम्प्रदायिकता इस सीमा तक रक्त में घुली-मिली है कि हम में से कुछ लोग नागरिक तो हैं भारत के किन्तु राष्ट्रीयता रखते हैं पाकिस्तान की। विदेशी भाषा अंग्रेजी का अत्यधिक मोह राष्ट्र-भाषा हिन्दी के शरीर में रह रह कर खंजर सा घोंप देता है और राजनीतिक मतवाद तो इतना व्यापक है कि सर्वत्र अपनी-अपनी डफली और अपना-अपना राग हो रहा है।

संसार के किसी भी देश में शायद ही इतने अधिक राजनीतिक दल हों जितने कि यहाँ हैं। यह सच है कि इस संख्या की अधिकता संविधान द्वारा प्रदत्त राजनीतिक स्वतन्त्रता की परिचायिका है पर यह भी सच है कि इन दलों में से अधिकांश के पास सिद्धान्त कम और व्यक्तिगत अहन्ता का बोझ अधिक है। इनमें से कई दलों ने तो राष्ट्र की इस आपात्कालीन स्थिति को अपने राजनीतिक दल की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने का साधन ही बना डाला है। उनके लिए राष्ट्र की अपेक्षा व्यक्तिगत मतवाद का स्थान ऊँचा है। एक दल का तो विश्वास रहा है कि हमारी राष्ट्रीय सुरक्षा को चुनौती देने वाले चीनी आक्रमणकारियों का स्वागत होना चाहिये था।

जब देश के प्रबुद्ध जन, राजनीति-चेता और विधायकों की वैचारिक संकीर्णता का यह हाल है तो सामान्य जनता की तो बात ही क्या ? सत्य वास्तव में यह है कि विचारों की संकीर्णता मानव के रक्त में है, उससे बिलकुल ऊपर उठ जाना शायद मनुष्य के लिए अपनी छाया से दूर भागना है। पर इसका यह आशय भी नहीं कि मानवता के विकास पर से हमारी आस्था ही उठ जाय और हम कवि 'दिनकर' के साथ कहने लगें—

'रहे धूल में पड़ा कि गंगा में नहलाओ
आदम का बेटा आदम का ही बेटा है।'

आशय केवल इतना है कि मानवी प्रवृत्तियों का परिष्कार अत्यन्त मन्द गति से होता है। बुद्धि का अंकुश वे नहीं मानतीं और कभी-कभी तो उसके प्रति विद्रोह

भी कर बैठती हैं। इस परिप्रेक्ष्य में निराशावाद की ओर न झुक कर करणीय यह है कि धैर्यपूर्वक वृत्तियों के परिष्कार की दिशा में लघु प्रयत्न किये जाएँ क्योंकि ग़लत दिशा में शीघ्रतापूर्वक बढ़ने की अपेक्षा सही दिशा में धीरे-धीरे बढ़ना ही श्रेयस्कर है। राष्ट्रीय सुरक्षा का जन-जागरण से अत्यन्त निकट का सम्बन्ध है। कहना चाहिये कि जन-जागरण पर ही राष्ट्र की रक्षा निर्भर है और कि, उसके बिना राष्ट्रीय सुरक्षा असम्भव है। आज का, बीसवीं शताब्दी का युद्ध केवल सैन्यबल द्वारा नहीं जीता जा सकता। उसे जीतने के लिये देश के प्रत्येक खेत, प्रत्येक कारखाने, प्रत्येक अस्पताल, प्रत्येक दफ्तर, प्रत्येक विद्यालय, प्रत्येक दुकान और प्रत्येक गली-कूचे को युद्ध का मोर्चा बनाना पड़ता है और प्रत्येक नागरिक को इनमें से किसी न किसी मोर्चे पर लड़ना पड़ता है। मोर्चों की इस शृंखला में प्रत्येक कड़ी पूर्ण रूप से सुदृढ़ होनी चाहिए। एक कड़ी की निर्बलता का अर्थ है सम्पूर्ण शृंखला की निर्बलता। शरीर के किसी एक अवयव के रोग-ग्रस्त होने का अर्थ है सम्पूर्ण शरीर का रोगी होना।

जनता के मस्तिष्क में इस तथ्य को भली भाँति प्रतिष्ठित कर देना जन-जागरण ही का एक अंश है। यदि हमारे वीर सैनिक युद्ध के अग्रिम मोर्चों पर राष्ट्र की रक्षा के लिये अपना प्राण तक होम देने का कर्त्तव्य ठानते हैं तो देश के असैनिक नागरिकों के भी कुछ कर्त्तव्य हो जाते हैं। एक का कर्त्तव्य दूसरे के कर्त्तव्य से अनिवार्य रूप में बँधा रहता है। समाज का एक वर्ग तो अपने कर्त्तव्य से बँधा रहे और शेष वर्ग कर्त्तव्यच्युत होकर अपने व्यक्तिगत स्वार्थों में डूबे रहें तो समाज का विनाश अवश्यम्भावी है।

अतः देश की जनता का कर्त्तव्य हो जाता है कि सीमान्त पर शत्रु-सेना की बाढ़ को रोकने में व्यस्त हम सैनिकों का मनोबल गिरने न दें। उनके लिये पर्याप्त अन्न, वस्त्र, हथियार, बारूद और अन्य आवश्यक सामग्री जुटाई जाय। यह तभी सम्भव है जब देश में उत्पादन कई गुना बढ़े। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सभी आवश्यक सामग्री विदेशी मित्र-राष्ट्रों से सहायता या ऋण के रूप में प्राप्त की जा सकती है, और की गई भी है, किन्तु आयात की यह नीति प्रारम्भिक रूप में ही उचित कही जा सकती है। यदि युद्ध अनिश्चित काल तक चलता रहे और सभी आवश्यक सामग्री आयात की जाती रहे तो राष्ट्र की अर्थ-व्यवस्था के बैठ जाने का भय है। कोई दूसरा देश आकर हमारे लिये युद्ध जीत देगा, यह सोचना निरा भोलापन तो है ही पर इस चिन्तन के मूल में शत्रु का भय और निज की शक्ति में अविश्वास की भावनायें भी झलकती हैं। स्वतन्त्रता की रक्षा न तो दूसरों की दया के बल पर होती है और न भिक्षा में ही प्राप्त होती है। अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए अपना ही रक्त और अपना ही स्वेद बहाना पड़ता है।

देश की संकटकालीन स्थिति के परिवेश में जन-जागरण का अर्थ आर्थिक क्षेत्र में है उत्पादन में वृद्धि और वस्तुओं की मूल्य-वृद्धि में रोक-थाम। जनता में यह चेतना जाग्रत होनी चाहिये कि उसे अपने-अपने कार्यक्षेत्र में अधिक से अधिक उत्पादन करना चाहिये और मुनाफा खोरी तथा चोर-बाज़ारी करने वाले देश के शत्रुओं मे सावधान रहना चाहिये। देश की प्रथम पचवर्षीय योजना कृषि की उत्पादन-वृद्धि और द्वितीय पंचवर्षीय योजना औद्योगिक उत्पादन-वृद्धि का लक्ष्य लेकर चली थी और लक्ष्य-वेध किसी सीमा तक हुआ भी, किन्तु जन-संख्या की वृद्धि ने समस्या ज्यों की त्यों बना दी। कृषि के क्षेत्र में अधिक उत्पादन करने वाले व्यक्तियों को राष्ट्रीय पुरस्कार देने की भी योजना है किन्तु समस्या का जैसे कोई समाधान ही नही है। वस्तुतः हमारे कृषक स्वभाव से परिश्रम-प्रिय नहीं हैं, वे संतोषी और भाग्यवादी हैं। उनके विचारों में नवीन क्रान्ति भरने की आवश्यकता है।

औद्योगिक क्षेत्र में अपनी माँगें स्वीकार कराने के लिये श्रमिक-वर्ग अब भी हड़तालों का आश्रय लेकर राष्ट्रीय उत्पादन को गिराने का अपराध-सा करता है। वह अपने व्यक्तिगत स्वार्थों पर राष्ट्र-हित का बलिदान केवल इसी कारण करता है कि वह जाग्रत नहीं। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता क्योंकि कभी-कभी ऐसी हड़तालों में चीनी दलालों का हाथ भी देखा जाता है। जो जाग्रत नहीं है उसे तो जगाया जा सकता है, पर जो पहले से ही जाग रहा है उसे जगाना कठिन है।

कदाचित् ऐसी ही स्थिति देश के उस व्यापारी वर्ग की भी है जो मुनाफा-खोरी और चोर बाज़ारी द्वारा अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति की वृद्धि में लगा रहता है और सरकारी कार्यालयों के कर्मचारियों की भी जिन्होंने लालफीताशाही, उत्कोच और भ्रष्टाचार को प्रश्रय दे रखा है। उन्हें कठोर दण्ड-व्यवस्था द्वारा केवल प्रशासन ही जाग्रत कर सकता है।

राजनीतिक क्षेत्र में जन-जागरण का अर्थ है राष्ट्र को अपने राजनीतिक दल से ऊपर समझना। दलगत स्वार्थों और पारस्परिक विवादों को कम से कम संकट काल तक के लिये विसर्जित कर देना चाहिये। सांस्कृतिक क्षेत्र में इसका अभिप्राय देश की सांस्कृतिक एकता, और साहित्य तथा कला के क्षेत्र में इसका अर्थ भावनात्मक एकीकरण से है।

प्रश्न उठता है कि जन-जागरण हो कैसे और करे कौन ? निश्चय ही देश के प्रबुद्ध जनों पर इसका दायित्व है। प्रबुद्ध जनों में जिस वर्ग पर पहले पहल ध्यान जाता है वह राजनीतिक नेताओं का वर्ग है। इस वर्ग में दो प्रकार के नेता सम्मिलित हैं, एक वे, जो सत्ताधारी नहीं हैं और दूसरे वे जिनके हाथ में कुछ सत्ता है। सत्ता-विहीन राजनीतिक नेताओं के कार्यक्षेत्र की सीमायें हैं। जन-जागरण के उद्देश्य को

लेकर वे राजनीतिक सभाओं की आयोजना कर केवल भाषण दे सकते हैं और चूंकि सत्ताधारी नेताओं से उन्हें द्वेष है, उनके भाषणों में असन्तोष ही अधिक प्रकट होता है, कर्तव्य-परायणता कम'। उनके भाषण से जैसे यह ध्वनि निकलती प्रतीत होती है—'तुमने अमुक दल को सत्ता सौंपी है जो अपनी ग़लत अर्थनीति और विदेशनीति के कारण राष्ट्र-सुरक्षा में अपने आप को असमर्थ पा रहा है—'हमने तो पहले ही कहा था। अब अपने किये का फल भोगो। भविष्य में फिर ऐसी भूल न करना आदि आदि।'

इस प्रकार के भाषणों में की गई सत्ताधारी राजनीतिक दल की आलोचना कितनी ही सही क्यों न हो पर न तो वह समयानुकूल है और न ही औचित्यपूर्ण ही। जनता को जाग्रत करने की, उसे उसका सामयिक लक्ष्य बताने की, संकटकालीन स्थिति में उसके कर्त्तव्य-निर्धारण की जो प्रमुख बात है, वह तो ओझल ही रह जाती है। इस प्रकार के लक्ष्य-भ्रष्ट भाषणों से जन जागरण की आशा कम ही की जानी चाहिए।

नेता जो सत्ताधारी हैं, देश का प्रशासन चलाते हैं उनके पास भाषण के अतिरिक्त और भी साधन हैं। जन-जागरण की दिशा में सर्वाधिक दायित्व इन्हीं लोगों पर है। ये समर्थ पुरुष हैं और सब कुछ कर सकते हैं किन्तु इस संकटकालीन स्थिति में इनकी भी सीमाएँ सामने आयी हैं। राष्ट्र की सुरक्षा के साथ साथ सत्ता की सुरक्षा के लिए ये चिन्तित रहते हैं। अपनी भूल को भूल स्वीकार करने का आत्मसाहस न दिखाकर उस पर लीपापोती करते रहते हैं। ऐसी स्थिति में इनकी बात का महत्त्व कम हो जाता है और जनता उसमें विशेष रुचि नहीं लेती।

प्रबुद्ध जनों का दूसरा महत्त्वपूर्ण वर्ग पत्रकारों का है। वैसे पत्रकार साहित्यकार ही होते हैं। किन्तु उनकी विशेषता इस बात में है कि वे कुछ-कुछ राजनीतिक अस्तित्व भी रखते हैं जो साहित्यकारों के पास नहीं होता। अतः उनका साहित्यकारों से स्वतन्त्र ही वर्ग माना जाता है। पत्रकार समाचारों के साथ-साथ अपने सम्पादकीय विचार भी नियमित रूप से जनता के पास पहुँचाता है और इन विचारों के माध्यम से जन-जागरण में महत्त्वपूर्ण हाथ बटाता है। पर खेद की बात तो यह है कि देश के अधिकांश पत्र किसी न किसी राजनीतिक दल के मुख-पत्र हैं और जन-जागरण के उद्देश्य से लिखे गये सम्पादकीय दलगत राजनीति में रँगे रहते हैं। आज देश की संकटकालीन स्थिति में भी उन्होंने अपना रँग नहीं छोड़ा है और राष्ट्र का हित करने की अपेक्षा वे उसका अहित ही कर रहे हैं। बहुत थोड़े समाचार-पत्र ऐसे हैं जो स्वतन्त्र हैं। इन्हीं पत्रों से हम वास्तविक जन-जागरण की आशा कर सकते हैं।

पर समाचार-पत्रों की भी सीमाएँ हैं। देश के अशिक्षित लोग, और उन्हीं की संख्या अधिक है, इनके प्रभावक्षेत्र में नहीं आते।

तीसरा वर्ग साहित्यकारों का है। आज चारों ओर से साहित्यकार के दायित्व की बात उठाई जा रही है, और यह ठीक भी है। समाज में साहित्यकार के महत्त्व को कम करके नहीं आँका जा सकता। वह अतीत का गायक, वर्त्तमान का रक्षक और भविष्य का निर्माता है। विश्व की अनेक राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक क्रांतियों के पीछे उसका व्यक्तित्व है। समाज के क्रांतदर्शी स्वप्नद्रष्टा के रूप में उसकी ख्याति सदा से चली आई है। उसकी लेखनी जन-हृदय की धड़कन को साकार बनाती है। वह तर्क और भावना के साधन-द्वय से जनता के मस्तिष्क और हृदय को प्रभावित करता है। उसकी अँगुली थामा कर लोग अबोध बालकों की भाँति अनजानी, अपरिचित डगर पर चल पड़ते हैं। ऐसा ही व्यक्तित्व है साहित्यकार का।

पर उसके लिए एक शर्त है और वह है प्रेरणा। प्रेरणा के अभाव में जिस साहित्य की वह रचना करता है वह केवल शब्दों का मायाजाल होता है, जन-मानस में जिसकी प्रतिक्रिया नहीं होती। सम्प्रति, जो संकटकाल देश के सम्मुख उपस्थित है उसका सामना करने के लिए असंख्य लेखनियाँ आगे बढ़ीं पर अपने कृतित्व पर वे स्वयं संकोच में गड़ गईं। देश के अनेक स्थानों पर वीर-रस के कवि सम्मेलन आयोजित हुए किन्तु उनसे उत्पन्न उत्साह-भाव श्रोताओं के घर पहुँचने से पूर्व ही काफूर हो गया। प्रताप, शिवाजी, झाँसी की रानी, बापू और जवाहर के नाम भी जैसे निष्प्राण हो गये। भामाशाह के अपूर्व त्याग का वर्णन हमारे धनपतियों को कोई प्रेरणा न दे सका। ऐसा क्यों?

लगता है जैसे आज की दुनिया में भावना का कोई स्थान नहीं रह गया है। जनता इतनी बुद्धिमान हो गई है कि वह भावना को सस्ती चीज समझने लगी है। पर बात ऐसी नहीं है। भावना मनुष्य के मन का अभिन्न अंग है। वह सदा एक सी स्थिति में विद्यमान रहती है। आवश्यकता केवल उसे उभारने की है और यह तभी हो सकता है जब साहित्यकार की रचना में प्रेरणा हो, अनुभूति का दंश हो।

प्रश्न उठता है कि प्रेरणा क्यों नहीं है? क्या राष्ट्र को चीनी आक्रमण का विशाल धक्का लगने पर ही साहित्यकार को प्रेरणा मिलेगी? जान पड़ता है आज का साहित्यकार मूढ़ हो गया है, आलसी हो गया है, रुपयों पैसों के चक्कर में पड़ गया है या अपनी अहन्ता के घटाघोप से घिरते-घिरते झूठा हो गया है। श्री अमृतलाल नागर के अनुसार साहित्यकार की वर्तमान उदासीनता का कारण इस प्रकार है—'राष्ट्रीय आन्दोलन-काल के राजनीतिक नेता और साहित्यकार के सपने

तो प्राय: एक जैसे ही रहे पर दोनों की शक्ति इस बार उन्हें साकार करने में एकजुट न हो सकी। क्यों ? आज़ाद भारत में नेता तो सत्ताधारी हो गया। मोटर, बँगला. शिमला, नैनीताल का स्वामी हो गया लेकिन साहित्यकार की हैसियत न बदली और बदली भी तो इस तरह कि कल जो दोस्ती की सतह पर समान मर्यादा के थे उनमें से एक-नेता, नौकरी या आर्थिक लाभ या और कोई प्रकार का एहसान लादने की सामर्थ्य वाला बन गया और दूसरा—साहित्यकार उसके अहसानों की लादी ढोने वाला, धोबी का छोटे साइज़ वाला बैल।'

यद्यपि श्री नागर के उक्त कथन में सत्य का पर्याप्त अंश है पर उसे आवश्यकता से अधिक अतिरंजित करके प्रस्तुत किया गया है। साहित्यकार में महत्वाकांक्षा की जो मात्रा उन्होंने देखी है वह भी शायद अतिरंजित है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि राजनीतिक नेताओं एवम् मन्त्रियों द्वारा साहित्यकारों के प्रति किया जाने वाला व्यवहार अनपेक्षित और तिरस्कारपूर्ण है पर जड़ की बात यह है कि साहित्यकार राजनीतिक नेता से ही सम्मान पाने का इच्छुक क्यों है ? यदि उसका साहित्य जनता में, अपने कार्यक्षेत्र में, समादृत है तो उसे नेताओं के पीछे भागने की कोई आवश्यकता नहीं।

फिर भी आत्म-सम्मान की भूख सब में होती है और साहित्यकार में तो वह विशेष प्रबल होती है। अत: यदि साहित्यकार को जनता का सम्मान न मिले तो अवश्य चिन्ता की बात है। और यही हमारे आज के साहित्यकार की उदासीनता का मूल कारण है।

आज भारत की जनता साहित्य एवम् साहित्यकार से ही नहीं, स्वयं जीवन से भी उदासीन है। जी इसलिए रहा है कि जीना पड़ता है। जीवन का भार ढोने वाली जनता के लिए न समाज में आकर्षण है, न स्वतन्त्रता में; न राष्ट्र में आकर्षण है, न नैतिकता में। अपरिचित शब्दावली की ये निरर्थक ध्वनियाँ जैसे किसी दूसरे ही लोक से आकर उसके कानों मे पड़ती हैं और कुछ देर गूँज कर मर जाती हैं। उसे आज 'मृत्योर्मा अमृतंगमय' मन्त्र की आवश्यकता है और यह मन्त्र साहित्यकार के अतिरिक्त कोई दे नहीं सकता।

साहित्यकारों से कर्त्तव्य-पालन के नाम पर आज यह आशा की जाती है कि वे केवल चीन-विरोधी साहित्य की रचना करें या स्वर्ण-दान की अपील करने वाला साहित्य लिखें। पर ऐसा सोचना साहित्य के अपने आयामों को बहुत सकुचित कर देना है। साहित्यकार को खूँटे की छोटी रस्सी से बाँधने का अभिप्राय है, उसे गला घोंटकर मार डालना। साहित्य का दायित्व इससे कहीं व्यापक है। उसे ऐसे साहित्य की रचना करनी होती है जो भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों को अपने में समेटता

है। उसे संकट का वर्तमानकालिक हल न ढूँढ़कर सार्वकालिक हल ढूँढ़ना होता है ताकि साहित्य ऐसे संकट का स्थायी समाधान किसी भी समय प्रस्तुत कर सके। उसे राष्ट्रवासियों में ऐसी भावना-भर उत्पन्न करनी है कि अपने आदर्शों की, अपने जीवन-मूल्यों की रक्षा, प्राण देकर भी की जानी चाहिये।

जनता को हर समय के लिये राष्ट्र की सुरक्षा, देश की सभ्यता एवम् संस्कृति की रक्षा, भारतीय अध्यातम की रक्षा के लिये कटिवद्ध कर देना ही साहित्यकार का संकटकालीन स्थिति में विशेष ध्येय हो सकता है। पर साधारणतया उसे सार्वकालिक और सर्वदेशीय सिद्धांतों की स्थापना के लिये ही प्रयत्नशील होना चाहिये।

सा[illegible]ार का दायित्व जितना राष्ट्र की सुरक्षा का है उतना ही अपनी लेख[illegible] तन्त्रता की रक्षा का भी है। उसे अपनी लेखनी किसी राजनीतिक ने[illegible]। किसी धनपति को वेच नहीं देनी चाहिये ! स्वतन्त्र लेखनी ही कोई मंत्र दे सक[illegible]ी है। साहित्यकार का सबसे बड़ा दायित्व अपनी ही आत्मा के प्रति है। उसे किसी ऐसे साहित्य की रचना के लिए वाध्य नहीं होना चाहिए कि जिसके लिए उसकी आत्मा साक्षी न देती हो और यदि वह ऐसा करेगा भी तो उस साहित्य में जीवन न होगा। उसे स्वयम् अपने कृतित्व पर सन्तोष न होगा और वह हीन भाव की कुण्ठा का शिकार होगा। अत: उसे नि:संकोच रूप से, बिना किसी लाग-लपेट के, विना किसी लल्लो-चप्पो के केवल अपनी आत्मा का प्रकाश फैलाना चाहिए। दीपक का काम प्रकाश फैलाना है, यह देखना नहीं कि उसके प्रकाश के आगे कोई ओट है या वह मुक्त रूप से विकीर्ण हो रहा है।